चर्मरोग चिकित्सा

यह पुस्तक मानव मात्र को सर्वाधिक पीडित करने वाले 'चमड़ी के रोग' पर आधारित है. इस पुस्तक में बताया गया है कि बच्चो और बड़ो मे चर्मरोगो की अलग-अलग विशेषताए होती हैं। एक ही चर्मरोग की तल्पिक गति बच्चे और बड़े मे भिन्न-भिन्न होती है, क्योकि उसके शरीर की प्रतिकार की क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त व्यवसायजनित परिस्थितयों पर आधारित चर्मरोग सिर्फ बड़ों में ही होते है। जबकि जनमारिक स्फोट, मिध्या फुसी क्लेश और अपशल्की चर्मरोग नवजात शिशुओं में होते है।

प्रस्तुत पुस्तक मे चमड़ी के रोग के प्रमुख कारणो तथा उनका उपचार कैसे हो इस पर लेखिका ने प्रकाश डाला है।

आशा है इस जटिल विषय पर आधारित यह पुस्तक जिज्ञासु पाठकों को अवश्य ही पसद आयेगी।

यह
पीड़ि
आधा
है वि
अलग
ही च
बड़े
शरीर
होती
परि
बड़ों
स्फो
चर्म

प्रमु
हो

आ
को

चर्मरोग चिकित्सा

राजकुमार एण्ड सन्ज़

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन
एक गौरवशाली परम्परा

या
पी
अ
है
अ
ही
ब
श
हो
पा
ब
स
च

प्र
हे

अ
वं



स्वास्थ्य शिक्षा की वैज्ञानिक विधि

चर्मरोग
चिकित्सा

लेखिका

डॉ. डिम्पल शाह

(भूतपूर्व सर्जन, दयानन्द अस्पताल)

प्रकाशक

राजकुमार एण्ड संस

दिल्ली-110032

ISBN : 81-88026-03-4

प्रकाशक : **राजकुमार एण्ड संस**
30/36, गली नं-9, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : **150.00**
संशोधक : राजकुमार शर्मा
संस्करण : प्रथम 2002
शब्द-संयोजनः मनीष लेज़र प्रिंट्स
शाहदरा, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी. के. ऑफसैट, शाहदरा, दिल्ली-110032

लेखकीय

बच्चों तथा बड़ों में चर्म रोगों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं। एक ही चर्म रोग की तल्पिक (Clinical) गति बच्चे और बड़े में भिन्न होती है, क्योंकि उनमें शरीर की प्रतिकारिता (reactivity) भिन्न होती है, उनमें अंतस्रावी स्तर (endocrine status) तथा केंद्रीय नर्वतंत्र (nervous system) की अवस्थाएं भिन्न होती हैं; इसके अतिरिक्त बच्चे का शरीर तेजी से बढ़ने वाला होता है। अनेक अन्य बातें भी हैं, जिनके कारण उनमें समान प्रकार के रोग अलग-अलग विशेषताओं के साथ प्रकट होते हैं। इतना ही नहीं, कई चर्मक्लेश (dermatoses) सिर्फ बच्चों में होते हैं और कई सिर्फ बड़ों में।

उदाहरणार्थ व्यावसायिक (व्यवसायजनित) चर्मरोग सिर्फ बड़ों में होते हैं, जबकि जनमारिक स्फोट, मिथ्या फुरीक्लेश और अपशल्की चर्मशोथ सिर्फ नवजात शिशुओं में होते हैं; आरंभिक जन्मजात सीफिलिस 4 वर्ष की उम्र में प्रकट होता है, जबकि विलंबित जन्मजात सीफिलिस अधिकांशतः 7 वर्ष से 16-18 वर्ष तक प्रकट होता है। अर्जित (acquired) सीफिलिस की विशेषताएं बच्चों में अलग होती हैं।

लेकिन अनेक चर्मरोग ऐसे भी हैं, जिनकी तल्पिक गति बच्चे और बड़े में समान होती है, या बहुत कम भिन्न होती है। इसीलिये इस एक ही पुस्तक के सामान्य थेरापी तथा बालचिकित्सा दोनों ही के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया है (पहले उनके लिए अलग-अलग पुस्तकें लिखी जाती थीं)। लेखिका यह भी आशा करती है कि प्रस्तुत पुस्तक चर्मरोग चिकित्सा के क्षेत्र में कार्यरत डॉक्टरों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगी।

—डा. डिम्पल शाह



अनुक्रम

चमड़ी के रोग

चर्मलोचन के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा

चर्मलोचन (dermatology) आयुर की एक शाखा है, जिसमे चर्मरोगों और उनकी चिकित्सा का अध्ययन होता है ('लोचन' का अर्थ है दर्शन, ईक्षण, निरीक्षण, अत अध्ययन भी)। इसकी जडे अति प्राचीन काल में भी देखी जा सकती है। स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाले चर्मरोगो की ओर लोगों का ध्यान बहुत पुराने समय से आकर्षित होता रहा है। इन रोगों के वर्णन विभिन्न देशों के पुराने-से-पुराने लिखित साहित्य में मिल सकते हैं। यथा, 3000-2000 वर्ष ईसा पूर्व के चीनी आयुर-साहित्य के कुष्ठ, मोमिता (मोमी चर्म), खाज, मीनत्व (मीनचर्मता), निर्वर्णकत्न, दिनाइ, खल्वाटता, फुंसीक्लेश, कोलफुसी, त्वचारुणता और अम्हौरी जैसे रोगो का कमोवेश रूप से सही वर्णन किया गया है। प्राचीन मिस्र की पाडुलिपियो मे (3000-1000 वर्ष ई. पू.) दिनाइ, कुष्ठ, खाज, कोलफुंसी, कीलस, ठेला आदि रोगो का विस्तृत वर्णन मिलता है। सुश्रुत संहिता (800-400 वर्ष ई. पू.) के अनुसार कुष्ठ, खल्वाटता, ठेला और बिवाई (पादक्षति) भारत में बहुत पुराने जमाने से ज्ञात है, उसमें खुजली की 14 दवाएं और पित्ती के 40 से अधिक उपाय वर्णित है। ईसा से बहुत पूर्व मूसा रचित ग्रंथो मे मोमिता, कुष्ठ तथा अनेक अन्य चर्मरोगो के वर्णन मिलते हैं। बाद मे चर्मलोचन विभिन्न देशो मे वहा के ज्ञान-विज्ञान और प्रचलित रोगो के अनुसार विकसित होता रहा।

आयुर का महत्त्वपूर्ण विकास प्राचीन ग्रीस में हुआ। हिप्पोक्रात (Hippocrates, 460-375 ई. पू.) प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होने आयुर को धार्मिक आचारों से अलग करने की कोशिश की। उन्होंने अनेक चर्मरोगो का वर्णन किया और उन्हे अतर्जनित तथा वहिर्जनित (endogenous and exogenous) कारणों के आधार पर दो वर्गो में बांटा। उनका सिद्धांत था कि रोग रसो—काले व पीले पित्त, रक्त और कफ के अपसामान्य मिश्रण के कारण होते हैं (अंतर्जनित कारण)। रसो के अपसामान्य मिश्रण का सिद्धांत (रस-सिद्धात) चर्मलोचन मे लंबे समय तक अपना स्थान बनाये रहा। हिप्पोक्रात ने अनेक ऐसे शब्दो का प्रयोग किया था, जो आज भी प्रचलित है—हेर्पेस (विसर्प), लेप्रा (कुष्ठ) आलोपेसिया (खल्वाटता), आफ्थे

श्वनत्रण कार्सीनामा [illegible]
का भी प्रयोग करते [illegible], गुक्थीमा [illegible] आदि।

रोम के लेखक सेल्सस (Celsus 25 ई.) ने अपनी कृति De medicina libri octo ('आठ खण्डों में आतुर') में कई अध्याय चर्मरोगों के [illegible] जैसे—फुंसी, कॉलफुर्मी, रोमकूप-क्लेश (सीकोसिस), [illegible] खजूक्लेश (सोरिआसिस), नुकीला कन्यावृद [illegible], [illegible], लोमतृणत्व (त्रिखोफीतोसिस) आदि का। वे चर्मरोगों के इलाज में धूप, गर्मी तथा व्यायाम के उपयोग की सलाह देते थे।

विख्यात फारसी विद्वान् अबू अली अल-हुस्सैन इब्न सीना (लातिनीकृत नाम आवीसेना, Avicenna) का जन्म 980 में हुआ था, वे कुछ समय तक [illegible] में रहे थे और अरबी में लिखते थे। उन्होंने बुदबुदिया, पित्ती, कच्छु, रोमनिका-कृमि का वर्णन किया था और श्लीपद तथा कुष्ठ में भेद बताया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चिकित्सा के नियम' में इब्न-सीना ने चीनी, भारतीय तथा यूनानी चिकित्सा का ही वर्णन नहीं किया है, चिकित्सा के क्षेत्र में उन्होंने मौलिक योगदान भी किया [illegible] उनकी अनेक अपेक्षाएं और नुस्खे आज भी सही हैं।

मध्ययुगीन सामंती राज में चर्च के बोलबाला के कारण चर्मलोचन समेत सभी प्रकृतिविज्ञानों के विकास में एक ठहराव आ गया था। सामंतवाद की तुलना में अधिक प्रगतिकारी समाज पूंजीवाद के विकास के बाद ही विज्ञान, कला और उद्योग में एक सामान्य प्रगति आरंभ हुई। यह प्रगति चर्मलोचन के क्षेत्र में भी आयी।

1571 में इटली के मेर्कूरिआलिस ने चर्मरोगों पर प्रथम पुस्तक (De morbis cutaneus) लिखी। चर्म की अनाटोमी और शरीरलोचन का भी तेजी से विकास होने लगा। मार्सेलो माल्पीगी ने अधिचर्म (epidermis) की शृंगी, श्लेष्मल तथा कांटल परतों में भेद किया, वसीय व स्वेदक ग्रंथियों तथा रोमकूपों का वर्णन किया और वसीय कोशिकाओं की खोज की।

18वीं शती के अंत में विएना के प्रोफेसर जोसेफ प्लेंक ने चर्मलोचन की एक पाठ्यपुस्तक Doctrina de morbis cutaneus (1776) लिखी, जिसमें सभी चर्मरोग 14 वर्गों में बांटे गये थे। इस वर्गीकरण का आधार रोगों की सिर्फ बाह्य समानताएं थीं; शरीर की सामान्य अवस्था, हेतुलोचनी (aetiological) तथा अन्य घटकों को ध्यान में नहीं रखा गया था। चर्मरोगों के अध्ययन में रूपलोचनी (morphological) चरण के इसी आरंभ से चर्मलोचन एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में उभरा, जिसकी अपनी विशिष्ट परीक्षण-विधियां थीं। चर्मलोचन में रूपलोचनी सिद्धांत का आगे चलकर विकास ब्रिटिश स्कूल की कृतियों में हुआ, जिसके

[illegible] विलियम (17[illegible]-18[illegible]) और उनके शिष्य थामस बेटमन (17[illegible]8-18[illegible]1) थे। विलियम ने ही शब्द 'एक्जेमा' (दिनाइ) प्रस्तावित किया था, जो अब विस्तृत रूप से प्रचलित है, इन्होंने इस रोग का स्पष्ट वर्णन दिया, चर्मरोगों पर एक पाठ्यपुस्तक लिखी, जिसे बड़ी मान्यता प्राप्त हुई। बेटमैन ने प्रथम चर्मलोचनी एटलस तथा चर्मरोगों पर एक पाठ्यपुस्तक प्रकाशित की।

इसी समय फ्रांस में भी चर्मलोचनी स्कूल विकसित होने लगा, इसके प्रवर्तक जीन आलिबर्ट (1768-18[illegible]7) थे। इन्होंने चर्मरोगों का वर्गीकरण एक वृक्ष के रूप में प्रस्तावित किया (तना चर्म था, मुख्य शाखाएं रोगों की जातियां थी, छोटी शाखाएं उपजातियां और टहनियां उनके प्रकार थीं)। उनका विश्वास था कि चर्मरोगों की उत्पत्ति शरीर में सामान्य गड़बड़ियों, विशेष कुमिश्रणों (डिसक्रेजिया, रसों के कुमिश्रणों), गठनात्मक (constitutional) रोगों तथा पारश्लेषण (diathesis) के कारण होती है। लेकिन इन घटकों का सार एवं कारण अस्पष्ट था, उनका गहन अध्ययन नहीं होता था। उस समय फ्रांसीसी चर्मलोचनी स्कूल के एक अन्य मशहूर प्रतिनिधि भी थे—अंतुआन बाजी (Antoine Bazin, 1807-1878)। उन्होंने अपनी कृतियों में मूलभूत अवधारणाएं प्रस्तुत कीं। इन विचारों का सार यह था कि चर्मरोग वास्तविकता में नहीं होता; रोग पूरे शरीर का होता है और त्वचा पर क्षतियां इन रोगों की बाह्य अभिव्यक्ति है (स्तुकोवेंकोव, 1883)।

इस प्रकार, जिस समय विलियम तथा बेटमैन द्वारा प्रस्तावित रूपलोचनी (रूप के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण यूरोप में विशेष लोकप्रिय हो रहा था, इसके विरुद्ध फ्रांसीसी चर्मलोचनी स्कूल का वर्गीकरण आया, जो चर्मरोगों की उत्पत्ति के रस-सिद्धांत पर आधारित था।

फेर्डीनांड फोन हेब्रा (Ferdinand von Hebra, 1816-1880) विएना के चर्मलोचनी स्कूल के प्रवर्तक और मुख्य प्रतिनिधि माने जाते है। अपने आस्ट्रियाई वर्गीकरण शिष्य कापोजी (Kaposi, 1837-1902) के साथ मिलकर उन्होंने चर्मक्लेशों का रोगो-अनाटोमिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो उस समय प्रगतिकारी था और चर्मरोगों के अध्ययन मे एक नये चरण का सूचक था। हेब्रा ने चर्मक्लेशों की उत्पत्ति में मुख्य भूमिका बाह्य रासायनिक, भौतिकीय एवं अन्य क्षोभकों (stimuli) की मानी। उन्होंने कुछ रूपलोचनी क्षतियों के अन्य क्षतियों में विकसित होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया, जैसे चित्ती का पिटक मे, पिटक का फोडिया मे, फोड़िया का पीपिका मे आदि। हेब्रा और कापोजी ने चर्मलोचन पर पाठ्यपुस्तके लिखी, चर्मरोगो के एटलस बनाये और नये किस्म के चर्मक्लेशों का वर्णन किया, जिनमे निम्न के नाम आते है—बहुरूपी रिसालु सुर्खी (erythema multiforme exudativum), कंडु (prurigo), वर्णकीय चर्मशुष्कता (xeroderma

pigmentosum), केशीय लाल तृसन (pityriasis rubra pilaris) भी। उन्होंने चर्मरोगों की चिकित्सा की बाह्य विधियों को व्यवहार में लाने के [illegible] की। विएना स्कूल की मुख्य गलती थी रोगकारी तत्वों के आधार पर रोगों के वर्गीकरण के सिद्धांत का अवमूल्यांकन।

यहां तक चर्मलोचन के विकास का परिणाम यह है कि 19वीं शती के अंत में और 20वीं शती के आरम्भ में इस विज्ञान की महत्वपूर्ण सफलताएं मिलीं। सैकड़ों अज्ञात चर्मरोग प्रकाश में आये, उनका अध्ययन एवं वर्णन किया गया, दर्जनों पाठ्यपुस्तकें एवं एटलस प्रकाशित हुए, अलग एवं [illegible] लिये चर्मलोचनी अस्पताल और तल्पालय खोले गये, आयुर्वी संस्थानों और विश्वविद्यालयों में चर्म रोगों के लिये अलग से विभाग बनाये गये, चर्मलोचनी पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं, वैज्ञानिक चर्मलोचनी समाज संगठित होने लगे आदि-आदि।

सूक्ष्मजीवलोचन की तीव्र प्रगति से चर्मलोचन में हेतुलोचनी विचारधारा विकसित हुई। अनेक खुमीज रोगों के कारक प्रकाश में आये, जैसे 1839 में मोमिता का, 1842 में परजीविज रोमकूपशोथ का, 1843 में सूक्ष्मस्पोरन का, 1844 में नरप्रेमी लोमतृणत्व का, 1846 में गुलाबी तृसन का। 1850 में [illegible] कोलफुसी और 1873 में कुष्ठ के कारक ज्ञात हुए। स्ट्रेप्टोकोक और स्टाफिलोकोक 1880-1884 में वर्णित हुए, यक्ष्माकारी बासिल 1882 में, [illegible] 1892 में, गोनोकोक 1879 में, त्रेपोनेमा पालीडुम 1905 में आदि। इन खोजों की सहायता से रोगों का हेतुलोचनी (कारण के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण संभव हुआ। जल्द ही यह भी ज्ञात हो गया कि शरीर में जीवाणु की उपस्थिति का यह अर्थ नहीं होता कि रोग होगा ही, इसके अतिरिक्त यह भी पता चला कि एक ही जीवाणु अलग-अलग लोगों में एक ही रोग को विभिन्न रूपों में उत्पन्न कर सकता है। रोग का विकास प्रेरित करने वाले प्रवणकारी घटकों (predisposing factors) का गंभीरता के साथ अध्ययन होने लगा। और इस तरह चर्मलोचन में गदजनन के अध्ययन की प्रवृत्ति को महत्ता मिली।

रूसी चर्मलोचकों (अ. पलतेब्नोव, अ. पस्पेलोव, पा. निकोल्स्की तथा अन्य) ने आयुर और विशेषकर चर्मलोचन में गदजनन (pathogenesis) के अध्ययन की प्रवृत्ति के विकास में बहुत बड़ा योगदान किया है। चर्मक्लेशों के विकास में पनपू (vegetative) नर्वतंत्र की भूमिका का गहरा अध्ययन होने लगा। परोजन (allergy, शरीर की परिवर्तित संवेदिता या संवेदनशीलता) की छानबीन भी आगे बढ़ी—आर्थस-पिर्के (Arthus pirquet), याडास्सोन (jadassohn) जुल्ट्सबेर्गेर आदि की कृतियों में। चर्मरोगों की उत्पत्ति और उनके कारणों पर अंतस्स्रावी (endocrine) क्रियाओं तथा अन्य घटकों के प्रभाव का अन्वीक्षण होने लगा।

सामान्य चर्मलोचन

आदमी का स्वास्थ्य, शरीर मे नार्विक (nervous), अंतर्स्रावी (endocrine), हत्कुंभिक (cardiovascular) तथा अन्य तंत्रों की कार्यशीलता, द्रव्य-विनिमय की सक्रियता और प्रवृत्ति आदि अनेक घटक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्म की भी अवस्था तथा कार्य पर असर डालते है।

पूरे शरीर की एक अखड इकाई के रूप में सक्रियता और चर्म के बीच एक प्रत्यक्ष निर्भरता पायी जाती है। चर्मलोचन का अध्ययन चर्म की अनाटोमी और शरीरलोचन से शुरू करते वक्त इस बात पर जरूर जोर देना चाहिये कि चर्म शरीर का एक अभिन्न अंग है और शरीर के अन्य कार्यो के साथ घनिष्ठ संबध रखता है।

चर्म की अनाटोमी और ऊतलोचन

चर्म-अनाटोमी (skin anatomy). आदमी का चर्म (चमडी, cutis) उसके शरीर का बाहरी आवरण है, वह शरीर के प्राकृतिक छेदों—मुह, नाक, मूत्र-जननेंद्रिय और गुदा के पास पहुंचकर श्लेषमल झिल्ली (mucous membrane) के साथ मिल जाता है। वयस्कों मे चर्म की सतह 1 5 से $2m^2$ तक होती है, जबकि मोटाई (अधोचार्म बसा (subcutaneous fat) को छोडकर) मिलीमीटर के कुछ अंशो से लेकर (पलक और बाह्य श्रवण-मार्ग पर) 4mm तक (हथेलियों और तलवो पर) होती है। अधोचार्म वसा की भी मोटाई जगह-जगह पर काफी भिन्न होती है। कुछ जगहो पर वह होती ही नहीं है और कुछ जगहो पर (जैसे मोटे आदमी के पेट और नितबों पर) उसकी मोटाई कई सेंटीमीटर तक पहुंच सकती है। वयस्क में अकेले चर्म का द्रव्यमान (mass) पूरे शरीर के द्रव्यमान का लगभग 5 प्रतिशत अंश होता है, जबकि अधोचार्म वसा के साथ करीब 16 से 17.7 प्रतिशत होता है।

चर्म की सतह (त्वचा) पर अनेक खांचे (खात, खातिकाए), सलवटें और अवनमन (गड्ढे) पाये जाते हैं, वह तीकोण और रोबवत्त (rhomboid) क्षेत्रो के एक जटिल क्रम (चटाई) के रूप में दिखती है। चेहरे की झुर्रियां, हथेली, तलवे और फोते (अंडकोष) की सलवटें चर्म पर स्थूल खातिकाए हैं। हथेली और तलवे पर एक-दूसरे के चलने वाली मेडे और खातिकाएं तरह-तरह की आकृतिया

बनाता है, इनका नमूना [illegible] के लिए [illegible]
का पहचानने के लिये [illegible]
दर्शन या [illegible] में [illegible]

त्वचा की ऊपरी [illegible]
विशिष्ट [illegible], जो [illegible]
की मोटाई चर्म के भीतर [illegible] (blood vessels) [illegible]
मेलानिन नामक वर्णक की उपस्थिति पर [illegible]
सकता है, क्योंकि चर्म में उपस्थित वर्णक की मात्रा [illegible]
प्रभाव से बढ़ती-घटती रहती है।

त्वचा का अधिकांश क्षेत्र बालों (रोमों) से आच्छादित रहता है। [illegible] क्षेत्र निम्न हैं—होंठ (सिंदूरी सीमा, vermillion boarder), [illegible] (उंगलियों समेत), लिंगमुंड (glans penis), वृहत् भगोष्ठ [illegible] लघु भगोष्ठ (large and small pudendal lips)।

त्वचा में मुश्किल से दिखने वाले रंध्र होते हैं, जो [illegible] ग्रंथियों (sebaceus glands) के द्वार हैं। कुछ बीमारियों में [illegible] seborrhoea में) ये रंध्र नंगी आंखों से भी दिखने लगते हैं।

उंगलियों के अंतिम खंडों की पृष्ठ सतह पर नख होते हैं।

चर्म का ऊतकलोचन (skin histology) भवजनि (ontogenesis) में चर्म दो अंकुरदायी स्थलों से विकसित होता है—

(1) बाह्य भ्रूणचर्म, जिसे बहिर्चर्म (ectoderm), बहिरंकुर (ectoblast) या अध्यंकुर (epiblast) कहते हैं; यह अधिचर्म में परिणत होता है।

(2) मध्य भ्रूणचर्म (mesoderm) या मध्यांकुर (mesoblast), जिससे चर्म की दो परतें विकसित होती है—सुचर्म (वास्तविक चर्म, dermis) या मध्य परत और अधोचार्म वसा या अवचर्म (सबसे गहरी चर्म-परत)।

अधिचर्म और सुचर्म के बीच की सीमा (काट या अनुच्छेद पर) लहरदार रेखा के रूप में होती है, क्योंकि सुचर्म की सतह पर विशेष प्रकार के स्तंभाकार उभार (चुचिकाएं या पिटिकाएं, papillae,) बने रहते हैं, जिनके बीच का अवकाश उपकलीय प्रवधों (epithelial processes) से भरा रहता है।

अधिचर्म

अधिचर्म (epidermis) चर्म की सबसे बाहरी परत है; यह परतलित (stratified) उपकला या पपडी (epithelium) है, जो शृंगीभवन (keratinisation) की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। अधिचर्म स्वयं भी पांच परतों से बनी होती है -



सामान्य चर्म का ऊतलोचन (आरेख)

चर्म 3 अवचार्म बसा· 4 वपाल ग्रंथि· 5 लोमकूप (पाशिका' 6 स्वेद ग्रंथि

(1) आधारीय या अंकुरक परत, (2) कांटल परत, (3) कणमय परत (4) स्वच्छ परत, (5) शृंगी परत। हथेली और तलवे पर ये परतें अधिक स्पष्ट हैं, लेकिन वक्ष और हाथ-पैर की आकोचनी सतहों (जहां ये अंग मुड़ते हैं, उनकी भीतरी सतह, (flexor surfaces)) पर स्वच्छ परत अनुपस्थित होती है, लेकिन इन क्षेत्रों में कणमय परत कोशिकाओं की इकहरी कतार से बनी होती है, जो कहीं-कहीं दोहरी भी होती है।

अधिचर्म मे नर्व-सिराए (nerve endings) अनेक होती हैं लेकिन रक्तवाही कुभियां एक भी नही, कोशिकाओं का पोषण अन्तराकोशिकीय झिरियों से बहकर आती लसीका (lymph) द्वारा होता है।

आधारीय या अंकुरक परत (straum basale or germinativum) अधिचर्म की सबसे भीतरी (गहरी) परत है और सीधे सुचर्म पर टिकी होती है। यह बल्लाकार कोशिकाओं की इकहरी परत से बनी होती है; इन कोशिकाओं के बीच झिरीनुमा स्थान (अवकाश) अतराकोशिकीय सेतु कहलाता है। बड़े बड़े गोल या अडाकार नाभिक अधिकाशतः इन कोशिकाओं के ऊपरी भाग में ही दिखते हैं, जो खोमातिन (chromatin) से काफी समृद्ध होते हैं और इनमें गाढ़ा रंग होता है। यही कारण है कि वे ऊपरी परत की कोशिका नाभिकों की तुलना में अधिक काले नजर आते हैं।

अंकुरक परत में बल्लाकार कोशिकाओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर एक विशेष प्रकार की विशाखनरत (द्रुमाकार या वृक्षाकार, dendritic) कोशिकाओ मे भी होती है, जिनका नाभिक नन्हा व काला होता है और प्राटोप्लाज्म (आदिरूप, आदिद्रव्य) बहुत हल्का होता है। इन कोशिकाओ के मुख्य कार्य बल्लाकार कोशिकाओं के ही स्तर पर होते हैं, लेकिन इनकी बहुसंख्य शाखाएं पड़ोसी कोशिकाओ को जकड़े रहती हैं और ऊपरी परत में कोशिकाओं के बीच-बीच विधी रहती हैं।

कार्य की दृष्टि से अकुरक परत की कोशिकाओं मे दो विशेषताएं है। एक तो वे परिचर्म के मुख्य अकुरनशील तत्त्व-एधक (cambrium) हैं जिनसे अधिचर्म की सभी ऊपरी परतो की कोशिकाए बनती (पनपती) हैं। आधारीय झिल्ली पर उदग्र खड़ी बल्लाकार कोशिकाओ का विभाजन सूत्रण (mitosis) से होता है। (सूत्रण या सूत्री विभाजन (mitotic division) कोशिका का सामान्य विभाजन, जिसमे रज्यकायो (chromosomes) का लबाई के सहारे टूटना, उनके जोड़ बनना तथा संतान-कोशिकाओ मे जोडों का समान संख्या में वितरित होना आदि चरण आते हैं।—अनु.)। दूसरे, अकुरक परत की कोशिकाओ के प्रोटोप्लाज्म मे विभिन्न आकार वाली भूरी गुलिकाओ के रूप में एक वर्णक मेलानिन उपस्थित

रहता है। अब यह माना जाता है कि वर्णक बनने का काम सिर्फ आधारीय परत की द्रुमाकार कोशिकाओ मे होता है, जो सही मायने मे मेलानो-कोशिकाए (melanocytes) है। अदाज लगाया गया है कि 1mm² क्षेत्र मे औसतन 1155 मेलानो-कोशिकाए होती है। यह भी निर्धारित किया गया है कि काली चमडी मे मेलानो-कोशिकाओ की सख्या गोरी चमडी से अधिक नही होती और त्वचा पर गाढे रग के धब्बे वाले स्थान पर मेलानो-कोशिकाओ की सख्या आस-पास की त्वचा की तुलना मे 28 6 से 44 5 प्रतिशत ही होती है। इसीलिये अब सर्वमान्य है कि त्वचा की वर्णकता मेलानो-कोशिकाओ की सख्या पर नहीं, उनकी कार्य-क्षमता पर निर्भर करती है। मेलानिन मेलानो-कोशिका के सीतोप्लाज्म (cytoplasm—कोशिकाद्रव्य) मे तीरोजीन (tyrosine) के आक्सीकरण से प्राप्त उत्पादो के बहुलकन से बनता है, पूरी प्रक्रिया तीरोजीनाज (tyrosinase) नामक खमीर (ferment) के प्रभाव मे चलती है, जिसकी सक्रियता ताम्र-आयनो की उपस्थिति पर निर्भर करती है। अंतस्रावी ग्रंथियो का कार्य भी वर्णक बनने की क्रिया पर सक्रिय प्रभाव डालता है। अनुकपी नर्वो (sympathetic nerves) का क्षोभ (या उद्दीपन, stimulation) वर्णक बनने की क्रिया को दमित करता है, लेकिन परावैगनी किरणें, आयनक विकिरण और कुछ रासायनिक द्रव्य इसे प्रोत्साहित करते है। विटामिन, विशेषकर विटामिन C, वर्णक के बनने म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

कांटल परत (stratum spinosum) अंकुरक परत पर होती है; इसकी मोटाई मे कोशिकाओं की 5 से 10 कतारे होती है, जो परत के गहरे भागो मे घन्वत (cuboid) होती हैं, पर ऊपर कणमय परत की ओर चपटी होती जाती है। काटल परत की कोशिकाएं काटों की तरह उभरी होती हैं और अंकुरक परत की कोशिकाओ के समान ही अतराकोशिकीय सेतुओ से जुडी होती हैं, वे एक-दूसरी को प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धो द्वारा छूती रहती हैं। इन कोशिकाओं के नाभिक गोल व बडे होते है और उनमें एक या दो केंद्रिकाए (जर्मन डॉक्टर Th Langhan, 1839-1915 के नाम ज्ञात कोशिकाएं) दिखायी जा सकती हैं (स्वर्ण-रंजित करने पर)। इनके नाभिक मुश्किल से रंजित होते है और इनसे अनेक विशाखित प्रवर्ध निकलते है, जो अन्य कोशिकाओ के बीच फैले रहते है। इन कोशिकाओ मे वर्णक नही होता, और ये हमेशा अकुरक परत से ऊपर स्थित होती है। लागहान-कोशिकाओ की प्रकृति अभी ज्ञात नही हुई है। कुछ विशेषज्ञ इन्हे नर्व-मूल का मानते है, कुछ इन्हे 'प्रवासी' श्वेतकोशिका (leucocytes) कहते है, कुछ मध्यस्रवामूल (mesenchyma origin) का कहते हैं और कुछ इन्हे वर्णकहीन द्रुमाकार कोशिकाए मानते है। (मध्यस्रवा भ्रूण-पिंड के प्राथमिक कोटर मे अंगो व ऊतको के अधिक

घने अकुरो के बीच का स्थान ढीले ढाल रूप में भग्न रहती माशिका ओ से भरा रहता है, जो रक्त-कोशिकाओं और अस्थीय एवं चिकने पेशीय ऊतकों की बनी होती है।– अनु.) काटल परत की कोशिकाओं मे तानुसूत्रिकाएं (tonofibrilles) भी पायी गयी है। ये कोशिका-द्रव्य में होती है और एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक फैली नहीं रहती, प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धों में भी समाप्त हो जाती है। अंकुरक परत की बल्लाकार कोशिकाओं के कोशिका द्रव्य में ये कम स्पष्ट दिखती है। जैसे-जैसे हम ऊपरी परत कणमय परत की ओर बढ़ते हैं, काटल परत की कोशिकाएं चपटी तथा अधिचर्म की सतह के समानान्तर चपटी होती जाती है और ऊपरी परत के साथ कोई स्पष्ट सीमा बनाये बगैर उसमें मिल जाती है।

कणमय परत (stratum granulosum) की मोटाई में (अधिचर्म के समानातर) कोशिकाओ की एक या दो कतारें होती है (हथेली व तलवे पर चार तक होती है), इनके नाभिक क्रमश छोटे होते जाते है और प्रोटोप्लाज्म में मन्द रग से गाढ़ा रजित असख्य कण दिखने लगते हैं। कुछ विशेषज्ञ इन कणों को नाभिकीय अवजनन (degeneration) का उत्पाद मानते है, अन्य मानते हैं कि ये ततिकाओ के टुकड़े-टुकड़े होने से बनते हैं। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये कण एक विशेष द्रव्य केरातोहिआलिन (keratohyalin - शृंगीकाच) से बनते है, पर बाद मे पता चला कि यह द्रव्य न तो शृंगी है, न काच ही, नवमता के अनुसार यह DNA से सबंधित है। 'शृंगीकाचर' कणों की उपस्थिति अधिचर्म कोशिकाओं के शृंगीभवन (keratinisation) का प्रथम दृश्य चरण है।

अधिचर्म की अंकुरक, काटल तथा कणमय परतों को अक्सर एक नाम - मालपीगी-परत से पुकारते है (M Malphighi, 1628-1694; इतालवी अनोटोमक)।

स्वच्छ परत (stratum lucidum) कणमय परत पर स्थित होती है; यह लमडी कोशिकाओ से बनी होती है, जिनमें प्रकाश को बहुत अधिक अपवर्तन करने वाला एक विशेष प्रोटीन-द्रव्य होता है। यह द्रव्य तेल की बूद से मिलता-जुलता है, अत इसे एलेइडिन कहते है (eleidin; ग्रीक elei-जैतून से)। मुख्य अवयव एलेइडिन के अतिरिक्त स्वच्छ परत में ग्लीकोजन (glycogen) तथा कुछ वसीय द्रव्य भी होते है, जैसे--लिपोइड (lipoids), ओलेइक अम्ल (oleic acid)।

सामान्य रजन-विधियों (staining methods) के उपयोग से मोटी उपकलीय परत वाले चर्म-क्षेत्रो (जैसे हथेलियो और तलवो) की स्वच्छ परत एक रंगहीन धारी के रूप मे दिखती है। कुछ रोगलोचनी प्रक्रियाओं (मीनत्व, रुक्षशृंगिता) मे भी वह स्पष्ट दिखने लगती है। यह विचार अब प्रमाणित हो चुका है कि पानी और विद्युविश्लेषकों के लिये अधिचर्म की अबेध्यता स्वच्छ परत से ही संबंधित

हे—इसमे भी दो उप-परतें है; ऊपरी परत अम्लीय प्रतिक्रिया करती है और निचली क्षारीय (alkaline)। इस प्रकार स्वच्छ परत अधिचर्म की बहुत जटिल परत है।

शृंगी परत (stratum corneum) अधिचर्म की सबसे ऊपरी परत है। यह वाह्य परिवेश के प्रत्यक्ष सपर्क मे आती है और अनेक प्रकार के बाह्य घटकों का प्रतिरोध कर सकती है। यह सूक्ष्म, अनाभिकीत, शृंगीभूत व लमडी कोशिकाओ से वनी होती है। वे एक-दूसरी के साथ मजबूती से जुड़ी होती हैं और एक शृंगी द्रव्य (केराटिन, keratin) से भरी होती है, जिसकी रासायनिक सरचना अभी तक पूरी तरह निर्धारित नहीं हुई है। माना जाता है कि यह कोई अल्बूनोइड (albunoid) द्रव्य है, जिसमे पानी कम और गधक अधिक होता है, इसमे वसाए ओर पोलीसाखारीद भी पाये जाते हैं।

शृंगी परत का बाहरी भाग कम घना होता है, उसके मुख्य भाग से कभी-कभी और कही-कहीं पतली परत-सी अलग होती रहती है। इस प्रक्रिया को शरीरलोचनी विशल्कन (desquamation) कहते हैं। शृंगी परत की मोटाई चर्म मे सर्वत्र समान नही है, वह हथेली व तलवे पर विशेष मोटी होती है और पलको तथा वाह्य पुरुष-जनेंद्रिय पर वहुत पतली होती है।

चर्म में रक्तापूर्ति

चर्म-ऊतको मे रक्त की आपूर्ति रक्तवाही कुभियो के कई जालो के सहारे होती है। बडी धमनीय कुभियां पट्टिका से अधोचर्म वसा मे फैलती है और नन्ही शाखाओं के बटकर चर्बिल लुडिकाओं तक पहुचती है। सुचर्म और अवचर्म की सीमा पर वे ऐसी शाखाओं में बंटकर क्षैतिज रूप से फैलती है, जो पुन उन्हे आपस मे मिलाती है (anastomose—दो कुभियों, नलियो का आपस मे शाखाओ द्वारा मिलना, शाख-सगम)। चर्म मे गहरा धमनीय गुंफ (जाला, बुनावट, plexus) उत्पन्न होता हे, जिससे निकली हुई शाखाए स्वेद-ग्रथियो की कुडलियों, लोमकूपो और चर्बिल लुडिकाओ का पोषण करती है। इसके अतिरिक्त, गहरी धमनीय गुफ से पर्याप्त बडी धमनिया भी फूटती हैं, जो अवपिटिकामय (subpapillary) परत में पहुंचती है और वहा सतही अवपिटिकामय धमनीय गुफ बुनती है। इससे निकलने वाली नन्ही धमनीय शाखाएं पेशियों, वपाल ग्रंथियो, स्वेद-ग्रंथियों और लोमकूपों का पोषण करती है।

अवपिटिकामय गुफ से ऐसी भी नन्ही धमनिया निकलती हैं, जो आपस मे नही मिलती है (और इसीलिये वे अन्त्य धमनिया कहलाती है), ये कुछ दूर तक अधिचर्म के समानांतर जाकर कोशिकाओं (capillaries) मे परिणत हो जाती हैं,

जो पिटिकाओं में पहुंचकर नन्हे पाश बनाती हैं। ये पाश क्रमश: शिरीय कोशिकाओं के पाशों में परिणत हो जाते हैं। शिरीय कोशिकाएं धमनीय कोशिकाओं से कुछ चौड़ी होती हैं।

पिटिकाओं, कपाल ग्रंथियों, स्वेद-ग्रंथियों की निकास-नलिकाओं, कामकूपों और पेशियों से निकलकर शिरीय कोशिकाएं आपस में मिलती जाती हैं और प्रथम सतही अर्धपिटिकामय शिरीय गुंफ तैयार करती हैं। अधोचर्म परत तक के क्षेत्र में चार शिरीय गुंफ हैं। चौथे गुंफ से निकली शिराएं अवचर्म से गुजरती हैं और अधोचर्म (चर्म से नीचे की) शिराओं से मिल जाती हैं।

अधिचर्म में रक्तकुंभियां (blood vessels) नहीं होतीं।

रक्तकुंभियों का सबसे शक्तिशाली जाल चेहरे, हथेलियों, होंठों की चमड़ी में और गुदा के गिर्द चर्म में होता है।

चर्मरोगी का परीक्षण

चर्म रोग से ग्रस्त व्यक्ति के परीक्षण की रीति किसी अन्य (जैसे आतर रोगी के) रोगी के परीक्षण की रीति से भिन्न होती है, उसकी अपनी विशेषताएं होती हैं। चर्मलोचक अपने रोगी से पूछता है कि उसे क्या शिकायत है और उसे आयुरी सलाह की आवश्यकता क्यों पड़ी है। यदि रोगी बताता है कि उसकी त्वचा या श्लेष्मला पर स्फोट (दाने) निकल आये हैं, तो डॉक्टर ग्रस्त क्षेत्र को दिखाने के लिये कहता है। इसीलिये चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन में (विशेषकर अनावासी तल्पालय की परिस्थितियों में) परीक्षण करते वक्त दृश्य-निरीक्षण को ही प्राथमिकता दी जाती है, रोगी के आयुरी इतिहास से संबंधित तथ्यों के संग्रह, उसकी आयु और जीविका के विश्लेषण को बाद में महत्त्व दिया जाता है। इसका रहस्य क्या है।

यह चर्मलोचन का क-ख है, जिसकी सहायता से रोगी के चर्म पर निदान को 'पढ़ा' जा सकता है। जब कोई चर्मक्लेश स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त रहता है और किसी अतिरिक्त परीक्षण-रीति की आवश्यकता नहीं रह जाती, तब डॉक्टर निदान करता है। लेकिन इसके बाद भी वह आयुरी इतिहास के तथ्य संग्रह करता रहता है, जिससे उसे रोगी के जीवन और कार्य की परिस्थितियों के विषय में जानकारी मिलती है; वह रोगी के आंतर अंगों व नर्वतंत्र की अवस्था तथा अन्य तथ्यों का भी अध्ययन करता है। इन बातों से उसे विवेकसंगत चिकित्सा सुझाने और रोग-पुनरावर्तन के विरुद्ध कदम उठाने में सहायता मिलती है। डॉक्टर जितना ही सक्षम होगा, जितना ही समृद्ध उसका तल्पिक अनुभव होगा, जितनी ही उसकी दृश्य-स्मृति विकसित होगी, उतनी ही सरलता के साथ वह स्फोट की प्रकृति

(रूपलोचनी क्षतियो का रूप, शरीर पर उनका वितरण, स्थिति, आकृति, परिरेखा परिसर, सतह, उनके सबध, उनके घनापन आदि) के आधार पर रोग का निदान कर सकेगा। विशिष्ट प्रवाह वाले सभी चर्मक्लेशो के तल्पिक चित्रो की सूची यह देना सभव नही है, अत हम लोग उदाहरण के लिये सिर्फ कुछेक चार्म एव रतिज रोगों के नाम बताएगे, जिनका तल्पिक निदान उनकी बाह्य अभिव्यक्ति मात्र से ही अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

फुसी, कोलफुसी, स्वेदग्रथिशोथ, सामान्य एक्थीमा, बहुरगी बुसन, ललौंसी, पाद-कीट (tinea pedis), वलय-कृमि, मोमिता का शल्की रूप, बुदबुदियानुमा शैवाक, कटिबधक विसर्प, ललामक्लेश, कठचर्मता, दिनाई, पित्ती, खर्जूक्लेश, चौरस शैवाक, कठव्रण, द्वितीयक सीफीलिसी अवधि का विस्तृत कडार्ब आदि अनेक चर्म रोग है, जिनका प्रवाह 'क्लासिकल' रूप मे होता है, इनका निदान अनुभवशील डॉक्टर सरलतापूर्वक कर सकता है। फिर भी कुछ स्थितियों मे दृश्य-निदान कठिन होता है, क्योकि अनेक चर्मक्लेशो मे रूपलोचनी समानताए दृष्टिगोचर होती हैं और 'क्लासिकल' चर्मक्लेशों के तल्पिक चित्र तथा प्रवाह में भी अक्सर ऐसे लक्षण अवलोकित होते है, जो उनके लिये विशिष्ट नहीं होते (अविशिष्ट लक्षण, atypical features)। ऐसी स्थितियो मे, जब स्फोट के रूप से और यहा तक कि अन्य सहायक परीक्षण-विधियों (परिस्पर्शन, पारदर्शन, स्फोटित क्षति के खुरचन आदि) से भी निदान मे सफलता नही मिलती, तब डॉक्टर को रोगी का आयुर-वृत्त अधिक सविस्तार जमा करना चाहिए और उसकी शिकायतो को अधिक स्पष्ट करना चाहिए। आवश्यकतानुसार उसे आंतर अंगो और नर्वतत्र का परीक्षण करना चाहिए (जरूरत पडने पर अन्य विशेषज्ञों के साथ मिलकर, रक्त व मूत्र का रूपलोचनी अवयवानुपात निर्धारित करने के लिए परीक्षण करना चाहिए तथा अन्य सामान्य एव विशेष चर्मलोचनी परीक्षण करने चाहिए जैसे विओप्टिक सामग्रियों का गदोतलोचनी परीक्षण, कवको की उपस्थित की जाच, त्रेपोनेमा पालीदुम, गोनोकोकस, मीकोवाक्तेरिउम तुवेरकुलोसिस, मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे तथा कटलयक कोशिकाओ की जाच, सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण, इमूनोपरोर्जिक परीक्षण आदि) ताकि निर्णायक निदान किया जा सके और रोग की हेतुलोचनी व गदजनक विशेषताए निर्धारित की जा सके।

नीचे एक चर्मलोचनी रोगी के परीक्षणो का आरेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

चर्म रोग के निदान मे सावधानीपूर्वक सगृहित आयुर-वृत्त (medical history) का महत्त्व बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वृत्तिज रोग की आशका हो, तो रोगी के काम की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है—बूचडखाने तथा खाद्य-सरक्षक कारखाने मे काम करने वालो को अक्सर चर्मशोणवत्ता होती है,

कच्चे मांस (विशेषकर [illegible] के मांस) और [illegible] वालों के साथ भी यही बात है। ग्वालों (दूध दुहने वालों) को [illegible] चमकारों को सिवोरी व्रण होता है, पशु [illegible], [illegible] तथा [illegible] की देखभाल करने वालों को कनार (glanders) होता है, [illegible] (toxic melanoderma) उन लोगों को होता है, जो [illegible] (तल-परिष्करण, गैस आदि के उत्पादों) के संपर्क में काम करते रहते हैं। यदि चर्म लेइशमानता, कुष्ठ, फ्लेबोतोम दंश (phlebotoderma) या किसी अन्य चर्मक्लेश की आशंका हो, तो यह पता करना चाहिए कि रोगी कभी ऐसे इलाके में तो नहीं रहा है (अल्पकाल के लिये भी) जहां ये रोग अवलोकित होते हैं (उदाहरणार्थ, मध्य एशिया या काकेशस में, यदि लेइशमानता की आशंका है, मदूरा-कवकता, उष्णकटिबंधीय त्रेपोनेमा-क्लेश आदि की आशंका होने पर गर्म जलवायु वाले देशों में)। यदि रोगी मूत्रमार्ग में स्राव और जननांग पर अपरदक व व्रणित क्षतियों की उत्पत्ति की शिकायत करता है, तो निदान के लिये पिछले सांयोगिक यौन संसर्गों के समय का ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है।

मौसमी प्रकृति के चर्मरोगों का निदान अक्सर सरल होता है। उदाहरणार्थ, वसंत व पतझड़ (शरद) ऋतुओं में बहुरूपी रिसाव् ललामी, गुलाबी [illegible], पार्विक ललामी व कटिबंधक विसर्प का विशेष कोप रहता है। प्रकाश-चर्मक्लेशों, ललामशोथ, फ्लेबोतोम-दंश, शाद्वल चर्मशोथो, उग्र अधिचार्म तृणत्व आदि के रोगी चिकित्सा सलाह के लिये पहली बार वसंत या गर्मी में आते हैं; शीतशोथ के रोगी [illegible] और ठंडभरे मौसम में शिकायत करते हैं।

कभी-कभी निदान मे इस बात से भी सहायता मिलती है कि कुछ चर्मक्लेश पुनरावर्ती होते है (दिनाइ, खर्जूक्लेश, पादकीट, रिसालु ललामी, डूयूरिंग चर्मशोथ, सरल विसर्प आदि), या इसके विपरीत, कुछ में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति नही होती है (गहन कीट, गुलाबी बुसन, कटिबंधक विसर्प आदि)।

औषधज स्फोट की शंका होने पर रोगवृत्त और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है—रोगी ही बताता है कि किसी नियत दवा को मुंह (या किसी अन्य तरीके) से ग्रहण करने पर स्फोट पुन. प्रकट हो जाते है। यदि उसने इस तरह के संबंध अवलोकित नही किये है, तो भी स्फोट की औषधजता को एकदम से नकारा नही जा सकता। सावधानीपूर्वक संगृहीत आयुर-वृत्त से स्पष्ट किया जा सकता है कि स्फोट तभी पुनरावर्तित होता है, जब रोगी चौकलेट, स्ट्राबेरी, चिंगट (lobster) या कोई फल खाता है, जो इनके प्रति अति संवेदनशील व्यक्तियो मे चर्मगरणता, पित्ती आदि संप्रेरित करता है। यदि परीक्षण के समय रोगी के यक्ष्मा, सीफीलिस आदि रोगो. यकृत. जठरांत्र-मार्ग व रक्त की बीमारियो अथवा नर्वतंत्र अंतर्स्रावी

ग्रथा की गडबडियो का वृत्तात ज्ञात हो या यह पता हो कि रोगी इनमें से किसी वीमारी से ग्रस्त है, तो निदान मे सहायता मिलती है।

रोगी से पूछताछ करने पर कभी-कभी रोग की खानदानी प्रकृति स्पष्ट होती है, जिसके आधार पर खाज, चर्मकवकता, आनुवंशिक व जन्मजात चर्मक्लेशो (शृंगीक्लेशो के कतिपय रूपों, डारिया रोग आदि) का निदान किया जा सकता है। खुजली की उपस्थिति (या अनुपस्थिति), तीव्रता, स्थल तथा उग्रता-काल (दिन में या रात मे उग्र होता है ?) से सबधित सूचनाए भी प्राप्त की जाती है।

यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कुछ रोग सिर्फ पुरुषो या सिर्फ स्त्रियो को होते हैं। उदाहरणार्थ, पर्विका-कडु, चिरकालिक लोमतृणत्व, क्रमिक कठचर्मता और पार्श्विक ललामी ज्यादातर स्त्रियो में पायी जाती है, जबकि गुट्ठल नाक, गुल्मवत मुहासा आदि अक्सर पुरुषों को होते हैं।

स्वाभाविकत आयुर-वृत्त मे निम्न विषयो से सबधित बिल्कुल सही सूचनाए सन्निहित होनी चाहिए—रोग के प्रथम (वाह्य) लक्षण कब प्रकट हुए, उनका स्थान व जीवन-काल, उनमे कैसे-कैसे परिवर्तन हुए है (प्रक्रिया की प्रकृति), बारंबारता, पुनरावर्तन और उपशमन (शैथिल्य या विमोचन) की अवधि (यदि ऐसा होता है), भोजन (पथ्य) और विगत चिकित्सा पर स्फोट की निर्भरता, चिकित्सा का कारगरता (effectiveness)।

चर्मलोचनी रोगी से रोगवृत्त से सबधित जीवन-वृत्त की पूछताछ वैसी ही होती है, जैसी आंतर रोगों के तल्पालय मे।

रोगी के परीक्षण में अगला कदम है—उसकी सामान्य अवस्था और अलग-अलग अगो व शरीर तंत्रों (body systems) की अवस्था का वर्णन।

बच्चों और बड़ों की चिकित्सा के लिये भौतिकीय विधियां

चमरोगों की चिकित्सा मे भौतिकीय विधियो का विस्तृत उपयोग है। उनका प्रभाव भौतिकीय कारक के उपयोग-स्थल द्वारा निर्धारित होता है, इसके अतिरिक्त इसे खुराक-बधित उपयोग का पूरे शरीर के कार्य पर नियामक प्रभाव पड़ता है (यह प्रथम एव द्वितीय सिगनल-तंत्र पर प्रतिवर्त-प्रक्रिया द्वारा अभिक्रिया करता है)।

प्रयुक्त भौतिकीय कारक का प्रभाव रोगी को समझा देने पर रोगी के द्वितीय सिगनल-तत्र पर इसका विशेष अच्छा प्रभाव पडता है।

भौतिकीय घटक (प्राकृतिक और कृत्रिम) नियत परिस्थितियो और उचित खुराको मे प्रयुक्त करने पर वे कोशिका-पोषण को सही करते हैं या शरीर के कार्यो

को उद्दीपित करते हैं

वैद्युत् थेरापी

चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन में स्थिर और प्रत्यावर्ती दोनों ही धाराओं का उपयोग होता है। गैल्वेनी और डायडिनामिक धाराएं स्थिर होती हैं, जबकि डायथर्मी और पराउच्च-आवृत्तिक धाराएं प्रत्यावर्ती होती हैं।

गैल्वेनी धारा (Galvanic current, galvanism) का उपयोग चर्मलोचन में चर्म के पार दवा भेजने के लिये होता है (आयनटोफोरेसिस या गैल्वेनी आयनन, एलेक्ट्रोफोरेसिस—'विद्युत् से प्रवहन') या स्थिर धारा (विद्युविश्लेषण) में इलेक्ट्रोड के लाल तप्त द्वारा ऊतक के प्रदाहन के लिये होता है।

विद्युप्रवहन शरीर में विभिन्न आयनों का प्रवेश सम्भव बनाता है, ये आयन निम्न हो सकते है—धातु के, क्षारवत्तो के, जैव नीचायन (कैटायन) एवं ऊर्ध्वायन (ऐनायन), धातुवतों के, अम्लीय मूल के आदि।

चर्मलोचनी प्रैक्टिस में अक्सर प्रयुक्त कारक निम्न हैं—कैल्सियम क्लोराइड का 0.5-2.0 प्रतिशतीय घोल (स्पष्ट शोथी प्रतिक्रिया और खुजली से युक्त परोर्जिक चर्मक्लेशों में), मैग्नेशियम सल्फेट का 2.0-3.0 प्रतिशत घोल (शीतलिका की चिकित्सा और नर्वतंत्र पर शांतिदायक प्रभाव के लिये), पोटाशियम या सोडियम आयोडाइड का 0.5-1.0 प्रतिशत घोल (गुल्मवत क्षतांक तथा चिरकालिक शोथ-केंद्र दूर करने के लिये), सोडियम ब्रोमाइड का 2 प्रतिशत घोल (कंडूवर्धक विसर्प तथा पीड़ाजनक शोथी-प्रक्रियाओं को दूर करने के लिये), इख्थामोल का जल में 1.0 प्रतिशत घोल (चिरकालिक अंतर्स्यंदन को शीघ्र विलीन करने के लिये), कॉपर सल्फेट का 1.0 प्रतिशत घोल (फुंसीक्लेश की चिकित्सा के लिये), जिंक सल्फेट का 1.0-2.0 प्रति प्रतिशत घोल (सामान्य मुहासा, फुंसीक्लेश, स्ताफीलोकोक-जनित लोमकूपशोथ, लाइलाज व्रणसतह में)।

डायेडिनामिक धारा भी एक स्थिर विद्युत् धारा है; यह एक संदिष्ट निम्नावृत्तिक ज्यावत धारा है। इस धारा को उत्पन्न करने वाला उपकरण 'डायेडिनामिक' कहलाता है। चर्मलोचन में इसका उपयोग सिर्फ पीडा-शमन और प्रतिकंडुक प्रभाव के लिये होता है (प्रतिवर्त के सहारे)।

डायेथर्मी (पारोष्मन) प्रत्यावर्ती धारा से संबधित है, जिसकी ध्रुवीयता प्रति सेकेंड 3000000 बार बदलती है। विद्यु-चिनगारी वाले डायेथर्मी उपकरण अब प्रयुक्त नहीं होते, उनकी जगह लैपयुक्त डायेथर्मी का उपयोग होता है। इस धारा का उपयोग स्थानीय तौर पर गहरे ऊतकों को गर्म करने के लिये होता है (एक्स-र या तुषारण से उत्पन्न व्रण, क्षतांक, सीमित कठचर्मता-अधिकेंद्र में) और प्रतिवर्त

द्वारा भी, जिसे खंडीय डायेथर्मी के नाम से जाना जाता है (रेनाउड रोग, वसरित कठचर्मता, तलवों और हथेली से अतिस्वेदन आदि में)। सीसे के प्लेटों से बने विद्युत (electrode) सीधे त्वचा पर लगाये जाते हैं, क्योंकि इस धारा से विद्यु-विश्लेषण नहीं होता और इसीलिये दग्ध भी नहीं होता। डायेथर्मी ऊतकों में तापोत्पादन संप्रेरित करता है। चर्मलोचन मे **डायेथर्मीकोएगुलेशन (पारोष्मस्कंदन)** या करोजिक पारोष्मन के उपयोग से ऊतक का नाश प्रोटीन-स्कदन के फलस्वरूप होता है। सक्रिय विद्युत् की काजकर सतह बहुत छोटी होती है, जैसे सुई की नोक, गुलिका, नन्हे पाश आदि के रूप मे। पारोष्मस्कदन का उपयोग निम्न को नष्ट करने में होता है—कीलक, पिटिकार्ब, चर्मरिशार्व, कुभिक तिल, दूरकुभी-विस्फारण। इसका उपयोग मुहासा की चिकित्सा और गोदना दूर करने में भी होता है; अतिलोम मे निर्लोमन के लिये भी।

परावृत्तिक धारा (ultrahigh-frequency current, UHF) 1 से 30 करोड़ प्रति सेकेंड आवर्तन वाली प्रत्यावर्ती धारा को कहते है; यह विद्युचुबकीय क्षेत्र उत्पन्न करता है। परावृत्तिक धारा का स्रोत (अर्थात् परालप तरगों का जनित्र) सिद्धाततः डायेथर्मी-उपकरण जैसा होता है। विद्युतो के रूप में विभिन्न परिमापो तथा आकृतियो के प्लेट प्रयुक्त होते हैं। विद्युत् त्वचा से जितना ही दूर होते है, परावृत्तिक धारा का असर उतना ही गहरा होता है। चर्मलोचन मे विद्युत् प्लेट को रोगी चर्म-क्षेत्र के निकट ही रखा जाता है क्योकि चर्म पर प्रभाव डालना होता है (रोमकूपशोथ, फुंसी, कोलफुसी, पूयता आदि मे)। उपयोग-सूत्र—5 से 10 मिनट।

एक्स-रे और बुक्की-किरणें (Bucky's rays) कुछ समय पहले चर्मलोचन मे एक्स-किरणो का विस्तृत उपयोग था, क्योंकि उनकी अभिक्रिया प्रतिशोथी, प्रतिकडुक और विलयकारी होती है। ये निम्न रोगों की चिकित्सा मे प्रतिखित होती है—नार्वचर्मशोथ, चौरस शौवाक, दिनाइ, सामान्य एव कैशोर मुहासे, नाक पर लाल कणो की उत्पत्ति, कोंग्लोबाटा मुहासा, स्वेदग्रथिशोथ, खर्जुक्लेश, गुल्मवत क्षताक, उपकलार्ब आदि। फिर भी अनुभव बताते हैं कि शोथी चर्मक्लेशों पर एक्स-किरणो से चिकित्सा का प्रभाव अधिक स्थायी और दीर्घकालीन होता है, जबकि अन्य रोग चिकित्सा का प्रतिरोध करते हैं। अन्य रोगो की स्थिति मे एक्स-किरणो से चिकित्सा के असफल होने पर इलाज मे परिवर्तन से कोई लाभ नही होता; अन्य चिकित्सा-रीतिया भी अकारगर सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त, एक्स-किरणो से विभिन्न जटिलताए भी उत्पन्न हो सकती है (एक्स-रे-जनित चर्मशोथ, चर्म-कुपोषणता, व्रणन, कभी-कभी दुर्दम अवजनन भी)। इन कारणो से अब चर्मलोचन मे एक्स-किरणो का उपयोग नौवर्धो (new growths) तथा उन चर्मक्लेशो की चिकित्सा तक ही सीमित रह गया है जो अन्य रीतियो से ठीक नही होते।

अब मध्यम (बुक्की की) किरणों का उपयोग [illegible] होता है, जैसे- [illegible] परिसीमित नवचर्मशोथ (वाइडल का चिरकालिक सामान्य [illegible]), चिरकालिक दिनाइ, गुल्मवत क्षतांका आदि में।

हाल ही में पैर के चिरकालिक व्रणों [illegible] की चिकित्सा में लेसर के उपयोग का परीक्षण किया गया है।

परास्वनिक चिकित्सा—परास्वनियां यांत्रिक, तापीय, भौतिकीय तथा रासायनिक प्रभाव डालती हैं। इनका उपयोग प्रत्यक्ष (त्वचा, पेशियों, संधियों पर) या अप्रत्यक्ष (मेरु पथों, अनुकंपी नर्वकबंधों आदि पर) होता है। चर्मलोचन में परास्वनियो का प्रत्यक्ष स्थानिक उपयोग स्वेदग्रंथिशोथ, स्थानाबद्ध खुजली, परिसीमित नार्वचर्मशोथ, खर्जुक सधिरोग तथा कूपीपज व्रणों की चिकित्सा में होता है। आंशिक अप्रत्यक्ष उपयोग निम्न रोगों में सुसंकेतित है—चिरकालिक पुनरावर्ती पित्ती, हर तरह की खुजलियां, विसरित नार्वचर्मशोथ, विसरित कठचर्मता परास्वनियों से औषधो (विटामिन ए, हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्शन आदि) का आधान स्वनप्रवेशन कहलाता है। इस तरह की चिकित्सा हथेलियों और तलवों के खर्जुकलेश, नार्वचर्मशोथ के परिसीमित रूपों तथा अतीव्र चरण पर स्थानाबद्ध दिनाइ में लाभकर होती है।

प्रकाश-चिकित्सा—इसमें मुख्यतः सौर स्पेक्ट्रम की लघुतरंगी किरणों का उपयोग होता है (सौर-चिकित्सा), कृत्रिम प्रकाश स्रोतों से उत्सर्जित किरणों, विशेषकर परावैगनी किरणो का उपयोग फोटो-चिकित्सा कहलाता है।

सौर-चिकित्सा—सूर्य की किरणी ऊर्जा मे परावैगनी किरणों का स्पेक्ट्रम भी आता है, जो शरीर मे जीवरासायनिक प्रक्रियाओ को प्रोत्साहित करता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि परावैगनी किरणें डेनु अम्ल (DNA) का सश्लेषण दमित करके ऊतको का लसीकीय कार्य दमित कर देती है। सौर किरणी ऊर्जा के अन्य अवयव, जैसे अवरक्त एव दृश्य किरणे शरीर को परावैगनी किरणों के प्रति संवेदनशील बनाती हैं, जिससे शरीर पर उसका प्रभाव बढ़ जाता है। चिकित्सा के लिये सूर्य-स्नान (सूर्यातपन) की अनेक रीतिया है, जो सौर-चिकित्सा प्रलिखित करने के उद्देश्य, चर्म मे रोग-प्रक्रियाओं की तीव्रता तथा रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती है।

पराबैगनी किरणो की अभिक्रिया बहुविध है—केंद्रीय एव परिसरीय नर्व-तंत्रों पर लाभप्रद प्रभाव; पीडाशामक, प्रतिकंडुक एव बैक्टेरियानाशक प्रभाव, बालों का वर्धन; वपा एव स्वेद के स्राव को प्रोत्साहन। इसीलिये चर्मलोचन मे ये किरणे बहुमूल्य मानी जाती हैं। सौर चिकित्सा सार्वदैहिक विकिरण के रूप मे अक्सर निम्न रोगो मे प्रयुक्त होती है—फुसीक्लेश, एक्थीमा, खर्जुक्लेश (स्थावर एव अवरोही चरणो पर) वपास्रावी एवं जीवाणुक दिनाइ और नार्वचर्मशोथ मे

फोटो-चिकित्सा—चर्मलोचन मे इसका उपयोग मुख्यत कृत्रिम पराबेगनी किरणो से होता है, जो वाख, क्रोमेयर, फीन्सेन द्वारा निर्मित पारद-वाष्प से युक्त लैपो से प्राप्त होती है। पहले जैवखुराक अर्थात् पराबैंगनी किरणो के प्रति व्यक्तिगत सवेदिता की अवसीमा (निम्नतम मात्रा) निर्धारित की जाती है। जैवखुराक निश्चित दूरी पर स्थित लैप द्वारा ललामी उत्पन्न होने के समय (मिनटो) की इकाइयो में नापी जाती है। इस समय मे पराबैगनी किरणो की जो मात्रा प्राप्त होती है (ललामी उत्पन्न करने के लिये), उसे ललामिक खुराक कहते हैं। भिन्न चर्मरोगो मे त्वचा के भिन्न क्षेत्रो के विकिरणन के लिये जैवखुराको की संख्या भिन्न होती है।

बाख के लैप से विकिरण का उपयोग मुहासे और चर्मशोणवत्ता मे होता है—एक दिन बीच देकर एक ललामिक खुराक; शीतशोथ मे उपललामिक खुराक प्रतिदिन, चर्मशोण मे जैवखुराक की 7-8 गुनी मात्रा। क्रोमेयर-लैप का उपयोग निम्न रोगो मे होता है—खोंतेदार खल्वाटता, गुल्मवत क्षताक, चर्म-यक्ष्मा।

सामूहिक विकिरणन के लिये भी स्थावर एवं सुवाह्य लैपो का विस्तृत उपयोग होता है। स्थानिक फोटो-चिकित्सा के लिये निम्न लक्षणो को ध्यान मे रखना चाहिए (इनका सिर्फ शैक्षणिक महत्त्व है)—(1) जब रूपलोचनी परिवर्तन ललामी, वस्तिका या बुल्ला के रूप मे उत्पन्न होते हैं (पित्ती, दिनाइ के कुछ रूपो तथा बहुरूप रिसालु ललामी मे); चिकित्सा जैवखुराक की चौथाई या इससे भी कम मात्रा से शुरू करनी चाहिए—600 वर्ग सेटीमीटर विस्तृत त्वचा के विकिरणन से। विकिरणन नित्य किया जाता है और हर दो-तीन सत्र बाद चौथाई जैवखुराक बढा दी जाती है; कुल दैनिक खुराक 2 से 2 5 जैवखुराक तक बढायी जा सकती है, विकिरण की कुल सख्या 15 से 20 तक हो सकती है। (2) स्थावर चरण पर पिटकीय क्षतियों वाले रोगों (चौरस शैवाक खर्जुक्लेश, परिसीमित नार्वचर्मशोथ) मे विकिरणन 1.5-3-5 जैवखुराक से शुरू किया जाता है, 100 वर्ग सेटीमीटर विस्तृत त्वचा से। विकिरणन हर दो से पाच दिन पर दोहराया जाता है (जब पूर्ववर्ती विकिरणन की प्रतिक्रिया दूर हो जाती है), हर अगले विकिरणन मे 1 5-3 से 7-8 तक जैवखुराक जोड़ी जाती है; कुल विकिरणन-सख्या 10 से 15 बार तक। (3) गठिक स्फोटो (tubercular eruption) मे (जैसे चर्म-यक्ष्म। लेइशमैनता आदि के स्थावर चरण पर) पैठन-केंद्र पर फीन्सेन या क्रोमेयर के फिल्टर-युक्त लैप से तीव्र विकिरण (15-25 ललामिक खुराक तक) प्रलिखित किया जाता है।

सौर एव कृत्रिमप्रकाशीय चिकित्सा निम्न रोगो में प्रतिसंकेतित है—ललामक्लेशिक वृका (दागी), फोटोचर्मक्लेश, वर्णकीय चर्मशुष्कता, ख्लोआज्मा, झौरिकाए अतिलोम

सूर्यातपन निम्न रोग-स्थितियों में प्रतिसंकेतित होता है—सार्वदैहिक तथा रु तीव्र रोगों में, केंद्रीय नर्वतंत्र के शरीरगत रोगों में, अपस्मार, रक्त-रोगों, हृदय नौवधों, ढालगरलता, मधुमेह, तीव्र नर्व दुर्बलता व ऋतुपूर्व क्लेश (या ऋतुपूर्व कुतान), फुफ्फुसी यक्ष्मा के आरोही रूप, प्रकाशसंवेदीकरण, डिनाट तथा नार्वचर्मशोथ के आरोही चरण, खर्जूक्लेश के ग्रीष्म रूप में, दर्जन गत्र रुजाकाय रोगों के लिये भी प्रतिसंकेतित है।

शीत-चिकित्सा—इसमें कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ का उपयोग होता है। द्रव नाइट्रोजन से हिमित करने का भी उद्देश्य यही होता है। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-केंद्र की सतह पर कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ से अभिक्रिया कराने के समय और सतह पर बर्फ लगाने के दाब की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। चूंकि दाब की माप आत्मगत है, इसीलिये बर्फ बिना किसी दाब के ही रखना चाहिए और खुराक की मात्रा सिर्फ समय द्वारा नापनी चाहिये। जिस गहराई तक जमाना (हिमित करना) हो, उसके अनुसार बर्फ का उपयोग-काल 5-10 सेकेंड से लेकर (जिससे रक्तातिरेक, कभी कभी शोफ और अपशल्कन होता है) 30-40 सेकेंड तक (जिससे घोर रक्तातिरेक, शोफ, बुल्ला, खुरंठी उत्पन्न होती है) और यहां तक कि 1-2 मिनट भी हो सकता है (जिससे ऊतक की मृत्यु हो जाती है)। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-प्रक्रिया के तल्पिक चित्र के आधार पर ही नहीं, क्षत क्षेत्र की अनाटोमिक-स्थलिक विशेषताओं के अनुसार भी निश्चित की जाती है। रोगी की उम्र तथा अन्य घटको को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

ठोस कार्बन-डाई-आक्साइड (अर्थात् इसकी बर्फ) से निम्न रोगों की चिकित्सा होती है—चिरकालिक चकतीनुमा ललामिक वृका, वलयाकार कणार्ब, आंसे रोजासेआ (ance rosacea) परिसीमित नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक (अतिपोषित रूप), पर्विका-कंडु, कुभिकार्ब, कीलक (सामान्य या चौरस), वयज शृंगार्ब। यदि बच्चे की चिकित्सा में करोर्जिक डायेथर्मी और शीत-चिकित्सा का विकल्प उठे, तो अंतिम को चुनना चाहिए, क्योकि बच्चे इसे कहीं अधिक सरलता से सहन कर लेते है (चौरस एवं सामान्य कीलक, कुंभिक तिल, वलयाकार कणार्ब आदि में)।

क्षतियों पर स्थानिक प्रभाव डालने की रीति के रूप में शीत-चिकित्सा निम्न परिस्थितियों में प्रतिसंकेतित है—चकत्तीनुमा और प्रकीर्णित ललामिक वृका के विसरित रूपो तथा ललामिक वृका के तीव्र रूप मे।

प्राकृतिक घटकों से चिकित्सा

प्राकृतिक-चिकित्सा मे रोगी के शरीर पर एक साथ कई घटको से अभिक्रिया

करायी जाती है जिनमें प्रमुख हैं किसी स्थान विशेष की जलवायवी परिस्थितियां खनिज जल-स्रोत, कीचड़, समुद्रजल, नदियों के मुहाने आदि। सोवियत संघ में स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसे लाभप्रद स्थानों पर विशेष निरोगालय और विश्राम-गृह निर्मित किये गये हैं, जहां रोगी पर चिकित्सा के कई उपाय एक साथ संकुल में लागू किये जाते हैं। यहां चर्मक्लेश की प्रकृति के अनुसार प्राकृतिक घटकों के अतिरिक्त अन्य आतरिक एवं बाह्य औषधप्रधान चिकित्साएं भी सुलभ करायी जाती हैं, जिससे कम समय में अधिक फायदा होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से रोग-शमन की अवधि बढ़ जाती है और पुनरावृत्ति की संख्या कम हो जाती है।

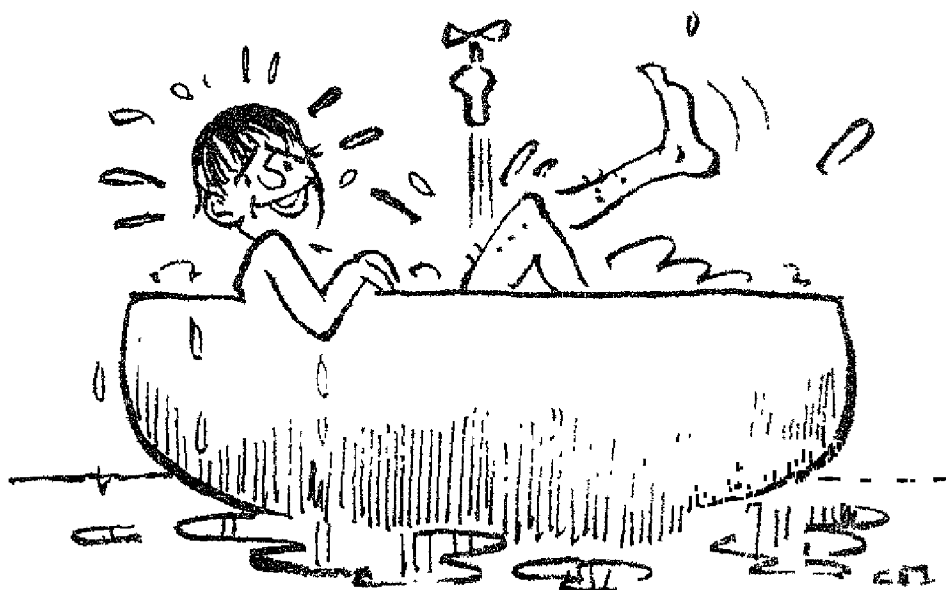
चर्मक्लेशों के तीव्र चरण पर रोगियों को प्राकृतिक चिकित्सा के लिये नहीं भेजा जाता। रोगी (विशेषकर बच्चों) के शरीर पर प्राकृतिक एवं खनिज घटकों के प्रभाव बहुविध होते हैं, खासकर ऐसे, जो हार्मोनी एवं रसीय परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, इसीलिये रोगी को चुनते वक्त उसके चर्म की अवस्था को ही नहीं, उसकी सामान्य शारीरिक अवस्था को भी देखना चाहिए। यह बात विशेषकर उन रोगियों पर लागू होती है, जिन्हें ग्रीष्म में दक्षिणी इलाकों के निरोगालयों में भेजा जाता है। तीन वर्ष से कम के बच्चों को प्राकृतिक निरोगालय भेजने की सलाह नहीं दी जाती; यदि आतर अंगों के लिये कोई भी प्रतिसंकेत न हो, तब भी। तीन वर्ष से बड़े बच्चों को भेजने का निर्णय हृत्कुंभिक तंत्र एवं अन्य आंतर अंगों से संबंधित सूचनाओं के आधार पर लिया जाता है।

निम्न क्लेशों से ग्रस्त रोगियों की चिकित्सा निरोगालयों में सफलतापूर्वक हो जाती है--खर्जुक्लेश, दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक, त्वचा पर खुजली, बच्चों व बड़ों में कंडु, कठचर्मता, पित्ती, मीनचर्मता, जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय चर्म-यक्ष्मा के चट रूप (सामान्य वृका, पिटकोमृतिक गटिक्लेश, कठललामी) पैरों के व्रण आदि। प्राकृतिक निरोगालयों में इनका इलाज रोग की स्थावर या अवरोही अवस्थाओं में और उपशमन-काल में किया जाता है, जिससे पुनरावृत्ति बहुत देर बाद होती है या बिल्कुल नहीं होती।

वायु-स्नान और सौर-चिकित्सा

वायु-स्नान और सौर-चिकित्सा की लंबाई (समय) रोगी की उम्र और सामान्य अवस्था द्वारा निर्धारित की जाती है, इससे शरीर का कठोरन होता है (रोग प्रतिरोध की क्षमता बढ़ती है), पूरे शरीर और विशेषकर चर्म के इम्यूनोजैव गुण सुधर जाते हैं। ऐसी अभिक्रियाओं की प्रकृति बिल्कुल शरीरलोचनी होती है, इसीलिये ये किसी भी प्राकृतिक चिकित्सा के आवश्यक अंग हैं। इनका उपयोग विभिन्न जलवायवी परिस्थितियों के अधीन वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में संभव है

वायु-स्नान



जल

वायु-स्नान शुरू में 5 15 20 मिनट तक किया जाता है, फिर धीरे-धीरे इस अंतराल को 1 या 2 घंटे तक बढ़ाया जाता है। वायु-स्नान दिन में अलग-अलग समय पर किया जाता है, लेकिन नाश्ते या भोजन के बाद नहीं।

बच्चों के लिये वायु-स्नान 2 या 3 महीने की उम्र में प्रलिखित किया जाता है - शिशु को दिन में दो बार कुछ मिनटों के लिए नंगा छोड़ दिया जाता है। इसके साथ-साथ बच्चे को व्यायाम भी कराया जा सकता है। मौसम और बच्चे की प्रतिक्रिया अनुकूल होने पर वायु-स्नान क्रमश 20-60 मिनट तक बढ़ाया जा सकता है।

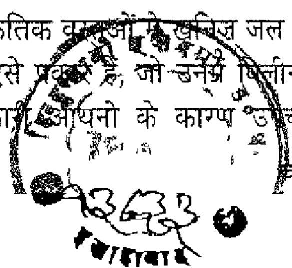
समुद्र-स्नान

समुद्र मे स्नान से शरीर पर निम्न घटको का मिला-जुला प्रभाव पड़ता है—जल में घुले लवणो व गैसों का, यान्त्रिक क्षोभो का (जल के घनत्व, नन्ही तरगो से कपन-मालिश आदि), धूप व समुद्री हवा का। समुद्री पानी मे विभिन्न लवण 1 से 5 प्रतिशत तक की सान्द्रता में घुले होते है, ये लवण निम्न आयनो के रूप मे विघटित रहते है—सोडियम, कैल्सियम, क्लोरीन, मैग्नेशियम, ब्रोमीन, आयोडीन आदि के। चिकित्सा के लिये समुद्र-स्नान तभी प्रलिखित किया जाता है, जब पानी का तापक्रम कम-से-कम 18°C हो (बच्चो के लिये इसे 2 या 3°C ऊंचा ही रहना चाहिए)। रोगी शुरू-शुरू में 2-3 मिनट तक पानी में रहता है, फिर यह अवधि क्रमशः 10-15-20 मिनट तक बढ़ायी जाती है। चिरकालिक चर्मक्लेशो से ग्रस्त बच्चो को 3 वर्ष की उम्र के बाद ही समुद्र-स्नान प्रलिखित करना चाहिए। शुरू मे कुछ बार उन्हे तभी नहाना चाहिए, जब पानी का तापक्रम 21-23°C से कम न हो और वे उसमें 2 या 3 मिनट तक ठहर सके। समुद्र-स्नान से चिकित्सा शुरू करने के पहले कुछ दिनो तक बच्चे को वायु-स्नान कराया जाता है और उसका शरीर समुद्री पानी से मला जाता है। उत्तरी (अधिक ठडे) इलाकों से आये बच्चो के लिये एक अनुकूलन-अवधि की आवश्यकता पड़ती है।

समुद्र-स्नान निम्न स्थितियो में प्रतिसंकेतित होता है—यक्ष्मा की सक्रिय प्रावस्था, रूमैटिज्म, तीव्र खीरकठोरन, गुर्दो, जठरात्र मार्ग एवं रक्त की बीमारियो, हृत्कुंभिक एव हृत्क्लोभिक अपूर्णता के स्पष्ट लक्षणो आदि मे।

गाह-चिकित्सा

गाह्य (स्नान-लायक) प्राकृतिक वस्तुओं मे खनिज जल मुख्य उपचारक घटक है। भूगत जल के जितने भी ऐसे प्रकार है, जो उनमें विलीन गैसो, अन्य खनिज द्रव्यो तथा सक्रिय चिकित्साकारी आयनो के कारण उपचारक गुण रखते है,



थेरापिक खनिज जल कहलाते हैं।

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार खनिज जल के सात मुख्य प्रकार हैं : (1) किन्हीं विशेष अवयवों तथा गुणों से हीन जल; (2) कार्बनित जल; (3) गंधक-युक्त, (4) लोहा, संखिया आदि से युक्त; (5) ब्रोमीन, आयोडीन से युक्त तथा जैव द्रव्यों से समृद्ध, (6) रश्मिसक्रिय रेडॉन से युक्त; (7) सिलिकन थर्म। इस वर्गीकरण में खनिज जल के भौतिकीय व रासायनिक गुणों और शरीर पर इनके प्रभाव को मिलाने की कोशिश की गयी है।

तापक्रम के अनुसार खनिज जल ठंडा, गुनगुना या गर्म होता है।

गंधक (हाइड्रोजन सल्फाइड), रेडॉन से युक्त जल, कार्बनित खनिज जल तथा सिलिकन थर्मे से युक्त जल का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है।

कार्बनित (कार्बन-डाई-आक्साइड से युक्त) जल में शरीर डुबाकर रखना (गाहन) उन चर्मक्लेशों में लाभकर होता है, जिनमें तीव्र शोथ नहीं होता (जैसे सुप्तावस्था में खर्जूक्लेश और नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक दिनाइ, कंडु आदि में) और जो स्थायी श्वेत या हल्की लाल चर्मग्राफी से लांछित होते हैं। इसके प्रतिसंकेत है—हत्पेशी का इन्फार्क्त, वृक्कशोथ, गुर्दक्लेश।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त जल में गाहन 5-10 मिनट तक एक-एक या दो-दो दिनों के अंतराल पर किया जाता है। इसमें स्वतंत्र हाइड्रोजन सल्फाइड की सांद्रता 30-40 से 100-150 ml/l तक हो सकती है। इसमें गाहन निम्न स्थायी या अवरोधी चर्मक्लेशों के लिये सुसंकेतित है—दिनाइ, खर्जूक्लेश, नार्वचर्मशोथ, कठचर्मता, चौरस शैवाक, पित्ती, मीनचर्मता आदि। प्रतिसंकेत वे ही हैं, जो सभी प्राकृतिक चिकित्सा के लिये होते हैं; इनके अतिरिक्त निम्न प्रतिसंकेत भी हैं—सक्रिय (फुप्फुसी) यक्ष्मा, यकृत तथा गुर्दे की बीमारिया, ढालगरलता।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त गर्म जल में हाथों और पैरों का गाहन स्थानिक गाहन-विधि है। बैठकर गाहन या आरोही फुहार में स्नान मूलाधार या पृष्ठद्वार में दिनाइ की चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होता है, सल्फर या वीशी (vichy) से युक्त जल की फुहार मे स्नान की सलाह खर्जूक्लेश तथा कठचर्मता के स्थावर रूपों में दी जाती है; सल्फर-युक्त जल से शिरोवल्क तथा चेहरा धोना वपास्राव मे लाभदायक होता है।

रेडोन से युक्त जल मे गहन का प्रभाव हाइड्रोजन सल्फाइड में गाहन की अपेक्षा अधिक नर्म होता है। इससे चर्म के शोथ-केंद्रों मे हिस्टामिन, सेरोटोनिन तथा ब्राडीकीनिन जैसे जीवलोचनी सक्रिया क्षोभक द्रव्यो के बनने की तीव्रता कम हो जाती है। स्थायी लाल विसरित चर्मग्राफी से लांछित दिनाइ तथा पित्ती की स्थिति में रेडोन-स्नान चर्मगत कुभियो की बेधिता कम करके तथा साथ ही उन्हें

सक्रामित करके रोग के तीव्र शोथी प्रवाह को कम कर देता है। यह प्रगामी खर्जुक्लेश, नार्वचर्मशोथ और कण्डु में भी लाभकर होता है। गाहन-काल 5 से 15 मिनट तक वांछनीय है।

सोवियत संघ में विशेष निरोगालय बनाये गये है, जहां नार्वचर्मशोथ, दिनाइ कण्डु तथा कठचर्मता से पीड़ित बच्चे चिकित्सार्थ भेजे जाते है। प्राकृतिक चिकित्सा में प्रयुक्त ये खनिज द्रव्य उन लोगों के लिये हानिकर (प्रतिसकेतित) हैं, जो हत्कुम्भिक तंत्र तथा अन्य आंतर अंगों की बीमारियो, चर्म के नौवर्धो तथा चर्मारुणता के शिकार होते है।

सिलिकन-युक्त जल में गाहन रेडोन-गाहन जैसा ही प्रभाव डालता है, क्योंकि उसमें खनिज लवण बहुत कम होते है और वह क्षोभ नहीं उत्पन्न करता। इसीलिए इसका उपयोग अनेक चर्मक्लेशों के उग्र एवं प्रगामी होने के समय भी सभव है। इसके प्रतिसकेत अन्य खनिज-चिकित्साओं जैसे ही हैं। गाहन बड़ो के लिये प्रतिदिन तथा बच्चों के लिये एक दिन बीच देकर वाछनीय है। गाहन-काल 5 से 15-20 मिनट तक हो सकता है, चिकित्सा 15 से 20 बार में सपन्न होती है।

पंक-चिकित्सा

सोवियत संघ में करीब सौ निरोगालय है, जिनमें लोगो की चिकित्सा रोगहर पंक से की जाती है। गाद (जैसे नदी का मुलायम पक) और पास (क्षारीय एव अम्लीय पास—जैव मूल के सड़ने से बने कीचड़) मे भेद करना चाहिए; इनमे उपस्थित सक्रिय अवयवो (हाइड्रोजन सल्फाइड, लोहा आदि) का अनुपात भिन्न होता है।

रोगहर पक को 40-44°C तक गर्म करने पर उसमें स्पष्ट विलयकारी गुण आ जाते हैं। 35-37°C तापक्रम पर पनपू नर्वो के नियमन और उद्दीपन का गुण व्यक्त होता है। खनिज जलों की तुलना मे रोगहर पंक अधिक ताप-चालकता और कम ताप-ग्राहिता रखता है। पक-चिकित्सा का उपयोग निम्न चर्मरोगो मे किया जाता है—अतर्म्यादित परिसीमित अधिकेंद्रो वाले खर्जुक्लेश, सधार्त्तिक खर्जुक्लेश, परिसीमित एव विसरित नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक घड्डा और शृगिक दिनाइ, कठचर्मता के परिसीमित अधिकेद्र और चौरस शैवाक के अतिपोषित रूपो मे। पक का उपयोग चर्म के नौवर्धो, रक्तरोगो तथा हत्कुम्भिक अपूर्णता की स्थितियो मे प्रतिसकेतित है।

नफ्थालान तेल से चिकित्सा

नफ्थालान (naphtalan) तेल प्रतिशोथी प्रभाव डालता है और उपकला को

शीघ्र पनपता है। इस तेल में गाहन निम्न रोगों में सफल होता है : त्वचक्लेश, चिरकालिक दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, कद्दू, त्वग-खुजली पित्ती, नारंगी शैवाक, कठोरचर्मता और मीनचर्मता। गाहन-काल 5 से 15-20 मिनट तक हो सकता है, तेल का तापक्रम 36-28°C होना चाहिए, चिकित्सा 15 से 20 बार गाहन से सफल होती है। सहनशीलता के अनुसार गाहन एक से तीन दिन के अन्तरालों पर प्रयुक्त होता है। वसंत और ग्रीष्म ऋतु में जिन लोगों का दिनाई या खर्जुक्लेश उग्र रूप धारण करता है, उनके लिये यह गाहन उपयुक्त नहीं है। अन्य प्रतिसंकेत नमक-युक्त जल मे गाहन जैसे ही है।

पैराफिन एवं ओजोसेरीत से चिकित्सा

पिघले हुए पेराफिन का उपयोग गहरे अतर्स्यंद या क्षत्तांक को ताप द्वारा घुलाने में सहायता के लिये सीमित (ग्रस्त) त्वचा-क्षेत्र पर किया जाता है। यह सीमित क्षेत्रों तथा कुछ चर्मरोगो मे ही प्रयुक्त होता है—उपेक्षित खर्जुक धब्बे, चोरस शैवाक के अतिशृंगिक रूपों, खोलदार खल्वाटता, नार्वचर्मशोथ और चिरकालिक दिनाइ मे अंतर्स्यदित परिसीमित धब्बे, उग्रता से अंतर्स्यदित सकदुक मुहासा आदि मे।

ओजोसेरीत (ozocerite, mountain wax) सूक्ष्म क्रिस्टलों वाले पैराफिन के उच्चश्यान एव हल्के तेलों का मिश्रण है, जिसे भूगत गुफाओ और तेल पत्थरों से प्राप्त किया जाता है। यह स्पष्ट अतर्स्यदन, शैवाकीकरण और अतिशृंगन से लछित चर्मरोगो की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है। अनुकूल थैरापिक गुणो, कम कीमत और प्रयोग-सरलता के कारण चर्मलोचन में ओजोसेरीत का विस्तृत उपयोग है। इसके अतिरिक्त, अल्प ताप-चालकता एव उच्च ताप-ग्राहिता के कारण यह रेत, पांस या पैराफिन से अधिक कारगर है (इसमे ताप को रोककर रखने की क्षमता पैराफिन से लगभग दुगुनी है)। निरोगालयो में इसका उपयोग अन्य प्राकृतिक चिकित्सा-रीतियो के संकुल में होता है। इसका परिवहन सरल होने के कारण इसे किसी भी शहर या गांव में (निरोगालय से बाहर भी) बच्चों व बड़ो की चिकित्सा में प्रयुक्त किया जा सकता है। तापीय प्रभाव के अतिरिक्त ओजोसेरीत रासायनिक, भौतिकीय और जीवलोचनी प्रभाव भी डालता है; इसमे उपस्थित जीवलोचनी सक्रिय द्रव्य अवसवेदक, प्रतिकडुक तथा प्रतिशोथी प्रभाव डालते है।

ओजोसेरीत 45-60°C तक गर्म किया जाता है और लेप या गजी की पुल्टिस के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके सुसकेत पैराफिन की तरह ही है, प्रतिसकेत निम्न है : तीव्र एवं अवतीव्र चर्मक्लेश, दुर्दम नौवर्ध, रक्तरोग, हृत्कुभिक कार्यों की [illegible]।

फुंसी॰ फुंसीक्लेश

फुसी की गणना चर्मपूयता के सामान्य रूपो मे होती है। यह लोम-मशिका और उसके गिर्द के योजक ऊतकों मे तीव्र स्ताफिलोकोकी पूयमृतिक शोथ को कहते है।

हेतुलोचन फुसी का निमित्त कारण **स्ताफिलोकोकस औरेउस** (सुनहरे स्ताफिलोकोक) है; कभी-कभी **स्ताफिलोकोकस** आल्बुस (श्वेत स्ताफिलोकोक) भी कहते हैं।

गदजनन फुसी स्वस्थ त्वचा पर उत्पन्न हो सकती है या पहले से ही उपस्थित सतही या गहरी स्ताफिलोचर्मता की क्लिष्टता (उसका उपद्रवी रूप) हो सकती है। इन जीवाणु-जातियों की गदजनकता और विषालुता के अतिरिक्त फुंसी तथा फुसीक्लेश के विकास में वहिर्जनित एव अंतर्जनित प्रवणकारी घटक भी बहुमूल्य भूमिका निभाते है। बहिर्जनित घटक निम्न है--धूल, कोयले या धातु के कण से त्वचा पर हल्की यात्रिक क्षति, जो पैठन के लिये प्रवेश-द्वार का काम करती है, कपड़ों के साथ घर्षण (गरदन, पीठ और नितबों पर), जिससे स्ताफिलोकोको का प्रवेश सरल हो जाता है और साथ ही साप्रोफीत [साप्रोफीत (ग्री 'साप्रोस'—शव-गलन; 'फीतोन'—उद्‌भिज, वनस्पति, पादप; अत. हिदी मे—कुणपतृण) कुणप—शरीर मे मत कोशिकाओं आदि से अपना पोषण करने वाले वनस्पति हैं।—अनु.] गदजनक रूप ग्रहण करने लगते है, नखून से खरोंचें (दिनाड, नार्वचर्मशोथ व खाज में), मौसमी परिस्थितियां। वृत्ति तथा घरेलू घटकों मे से उन बातों पर ध्यान देना चाहिए, जो अनेक लोगों में फुंसी-विकास की संभावना बनाती है। महत्त्वपूर्ण अतर्जनित घटक निम्न है—शरीर का दुर्बल होना, शरीर में द्रव्य-विनिमय की गडबडिया (मधुमेह, मोटापा या मेदुरता), जठरांत्र-रोग, अल्परक्तता, अविटामिनता, नार्विक एव अतस्रावी तत्रो के रोग, अल्कोहलता, शरीर का नियमित अतिशीतन या अतितापन आदि, जो शरीर की सामान्य इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता को क्षीण कर देते है। फुसिया अधिकाशत वसंत और शरद ऋतु मे होती है। यह रोग बच्चो की अपेक्षा बडो में और स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक अवलोकित होता है।

अकेली फुंसी (एक ही फुंसी जो कई महीनों के बाद पुन उत्पन्न हो जाती

है, पुनरावर्ती अकेली फुंसी (जो काफी दिनों या सप्ताहों [illegible] पुनरावर्तित होती है) और फुंसीरुग्णता (एक के बाद एक फुंसियाँ [illegible] किया जाता है। निदान निर्धारित करने में [illegible] फुंसी विद्रधि में विकसित हुई है या [illegible] के स्थान (ऊपरी होंठ, बाह्य कर्ण-छिद्र आदि [illegible]

रोग का तल्पिक चित्र और प्रवाह—फुंसी के [illegible] है—(1) अंतर्स्यंद का विकास, (2) पूयन और विमरण (विगलन), (3) [illegible]

पहले लोम-मशिका के गिर्द उभरा हुआ छोटा चमकदार लाल अंतर्स्यंद बन जाता है। अंतर्स्यंद की सीमा स्पष्ट नहीं होती और उसमें चुभन या हल्की पीड़ा की अनुभूति होती है। धीरे-धीरे अंतर्स्यंद एक दृढ़ गुल्म में परिणत हो जाता है और उसकी पर्याकृति बढ़ने लगती है, इर्द-गिर्द के ऊतकों में शोफ होता है (गाल, पलकों और होंठों के क्षेत्र में शोफ बहुत स्पष्ट हो सकता है)। तीसरे या चौथे दिन दूसरा चरण आरंभ होता है—फुंसी का व्यास 1-3 सेंटीमीटर हो जाता है और इसकी सतह पर केंद्र में पूयमृतिक क्रोड (शीर्ष) से युक्त पीपिका बन जाती है। फुंसी एक शंकुल गुल्म का रूप ग्रहण कर लेती है, उसकी त्वचा [illegible] और चमकदार नीली हो जाती है। इस अवधि में पीड़ा बहुत तीव्र हो जाती है, शरीर का तापक्रम 37-38°C तक उठ जाता है, सर्वक्लेश के लक्षण (सामान्य अस्वस्थता, सिरदर्द आदि) उत्पन्न हो सकते हैं। पीपिका की चोटी पर [illegible] स्वयं खुल जाता है (या कृत्रिम रूप से खोला जाता है)। फुंसी से पीप निकलती है, जो कभी-कभी रक्त-मिश्रित होती है। इसके बाद एक पीताभ हरा विमृतिक क्रोड निकलता है। क्रोड से निकलने (या उसे निकालने) के बाद शोफ, अंतर्स्यंदन और पीड़ा दब जाती है, जो दो या तीन दिनों में दाग के रूप में परिणत हो जाता है। दाग शुरू में नीला-लाल होता है, जो धीरे-धीरे सफेद होता हुआ लगभग अदृश्य हो जाता है। फुंसी का विकास-चक्र सामान्यतः आठ से दस दिनों तक चलता है।

प्रक्रिया के अवतल्पिक प्रवाह में एक पीड़ाजनक अंतर्स्यंद बनता है, पर पूयन या विमरण नहीं होता। छोटी फुंसी को मशिकाशोथ में नन्हे केंद्रीय विमृतिक क्रोड द्वारा उत्पन्न क्षति से भिन्न समझना चाहिए। अन्य रोगों अथवा गलत चिकित्सा से दुर्बल रोगियों में फुंसी विद्रधि में परिणत हो जाती है।

फुंसी हथेलियों और तलवों की लोमविहीन त्वचा को छोड़कर चर्म के किसी भी क्षेत्र में बन सकती है। अकेली फुंसी अधिकांशतः सिर के पिछले भाग में, प्रबाहु, पीठ, पेट, नितंब और निचले अंगों (पैरों) पर होती है। बाह्य कर्णकुहर के किनारे फुंसी से तीव्र पीड़ा होती है। ऊपरी होंठ पर फुंसी एक खतरनाक रोग है, क्योंकि इसमें लसकुंभियों और शिराओं के स्कंदक्लेश के साथ-साथ प्रमस्तिष्क कभियों

मे सृपक शिराशोथ और सामान्य (सर्वांगीण) सृपन हो जा सकता है। जब गरदन, वक्ष और जाघ मे फुसिया लसपर्वो के बहुत निकट होती है, तो लसकुभियो और लसग्रथियो का तीव्र शोथ विकसित हो जा सकता है। यकृत, वृक्क और अन्य आतर अगो की ओर भी (शोथ का) अपवहन सभव है। इन्ही क्लिष्टताओ के कारण फुसिया कभी-कभी गभीर रोग सावित होती है। हजामत के समय फुसी के कटने या उसे दबाकर बहाने के प्रयत्न से तथा अपर्याप्त स्थानिक चिकित्सा से इन क्लिष्टताओ के और भी बढने का खतरा रहता है। चेहरे पर, नाक व होठ के बीच त्रिभुजाकार स्थल पर और नाक के चर्म व श्लेष्मल झिल्ली पर फुसिया भी क्लिष्टताओ के विकास को सप्रेरित करती है।

फुंसीक्लेश एक ऐसी अवस्था है, जिसमे बहुसख्य (यद्यपि हमेशा नही) और पुनरावर्ती फुसीस्फोट उत्पन्न होते है। फुसीक्लेश स्थानाबद्ध (परिसीमित चर्म-क्षेत्र पर), विसरित या प्रकीर्णित (विखरा हुआ) हो सकता है। प्रवाह के अनुसार फुसीक्लेश तीव्र (कई सप्ताह से लेकर एक-दो महीने की अवधि अनेक फुसियो की उत्पति द्वारा लंछित) या चिरकालिक (छोटी अवधि या लगातार महीनो तक कम सख्या मे फुसियो की उत्पत्ति द्वारा लंछित) हो सकता है।

लछक (विशिष्टता-युक्त) केसो मे निदान सरल होता है। अन्य स्थितियो मे इसका सिवीरी (साइबेरियन) व्रण, स्वेदग्रथिशोथ और गहरे ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ णत्व के साथ अतर दिखाना पडता है। आथ्राक्स (सिबीरी व्रण) पिटक-वस्तिकीय क्षति के साथ होता है और उस पर भूरी-काली खट्ठी पड जाती है, इसके अतिरिक्त सुचर्म तथा अवचर्म मे भी स्पष्ट अतर्स्यदन हो जाता है, तीव्र पीडा और सामान्य अवस्था मे कई गड़बड़िया उत्पन्न होती है। स्वेदग्रथिशोथ मे अपस्रावी ग्रथियो का (काख, जघामूलीय सलवट, चुचुकों और पृष्ठद्वार मे) पूयिक शोथ होता है, केद्रीय विमृतिक क्रोड नही होता। लोमतृण (त्रीखोफीटोन) से उत्पन्न कणार्ब अक्सर शिरोवल्क तथा दाढी के क्षेत्रो पर उत्पन्न होता है। रोगवृत्त (जतु से स्पर्शात्मक सपर्क), तीव्र पीडा और पूयमृतिक क्रोड की अनुपस्थिति और गदलोचनी द्रव्य के सूक्ष्मदर्शन से कवको का अनुवेदन—ये सब निदान के लिये महत्त्वपूर्ण होते है। कुछ केसो मे फुंसीक्लेश को पार्विक ललामी, कठललामी और कटमालचर्मता से भी इतिरित करना पडता है।

ऊतगदालोचन पूयिक शोथ लोम-मशिका, स्वेद-ग्रथि तथा चारो ओर के योजक ऊतको को पूरी तरह ग्रस्त कर लेता है (परिमशिकीय अतर्स्यद के साथ गहरा मशिकाशोथ)। शुरू-शुरू ऊतगदलोचनी चित्र आस्यक मशिकाशोथ जैसा होता है, लेकिन बाद मे सपूर्ण वपा-लोमीय उपकरण तथा पड़ोसी ऊतकों का विमरण पाया जाता है, परिसर मे श्वेतकोशिकीय अतर्स्यदों की बहुलता होती है।

चारों तरफ के योजक ऊतक में अक्सर निस्कारित रक्तकोशिका और कोलाजनी का स्पष्ट शोफ अवलोकित होता है। पठन के अंग में प्रत्यास्थ एवं कोलाजनी तंतु (रेशे) पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। विमृतिक अड के घेरम्बर में एक मजबूत रजतप्रेमी-जालिका बन जाती है। तंतुओं के कोलाजनी बंधों का एक भाग बनाव पैठन के अड्डे को घेर लेता है, ताकि रोगाणु वहां से निकलकर अन्यत्र न फैले (इसीलिये फुसी को दबाकर बहाने के प्रयत्न से बनाव के टूटने का खतरा रहता है, जिसके फलस्वरूप रोगाणु अन्यत्र भी फैल सकते हैं)।

चिकित्सा—फुसी की चिकित्सा बहुत हद तक गलशोथनी प्रक्रिया के प्रकार एव प्रसार पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, यदि फुंसी अकेली है और इसके साथ कोई क्लिष्टता उत्पन्न नही हुई है, तो सिर्फ बाह्य थेरापी प्रलिखित की जाती है (विशेषकर जब रोगी आयुरी सलाह लेने में विलंब नहीं करता, रोग के आरंभिक चरण पर ही डॉक्टर से मिल लेता है)। पुनरावर्ती एवं क्लिष्ट फुसियों में, खतरनाक स्थल पर उत्पन्न फुसियो में, फुसीक्लेश मे (विशेषकर चिरकालिक एवं बिखरे हुए फुसीक्लेश मे) बाह्य थेरापी के अतिरिक्त गैरो सामान्य उपाय भी किये जाते है, जो जीवाणुक वनस्पतियो पर अभिक्रिया करते हैं, शरीर की रक्षी प्रतिकारी शक्तियां को स्फूर्त करते है और रोगी के परीक्षण के समय पाये गये अन्य अंतर्पेशीय रोगों को ठीक करते हैं।

प्रतिजीवको का विस्तृत उपयोग होता है। पेनीसिलिन अन्तर्पेशीय सुई में 50000-100000U की खुराकें प्रति तीन या चार घंटे पर दी जाती है; तीव्र रूप मे कुल मात्रा 1000000-3000000U तक दी जाती है और चिरकालिक रूपो मे 500000-10000000U या इससे भी अधिक। अनावासी तल्पालय के रोगी की चिकित्सा एक्मोनोवोसिलिन (बेंजिलपेनीसिलिन प्रोकेन व एक्मोलिन—त्रिप्रोटामीन सल्फेट के घोल—के मिश्रण) और बीसिलिनो (बेंजाथीन पेनीसिलिन) से की जाती है, जो पेनीसिलिन से चिरकारी प्रसाधन हैं। इनमे से पहली दवा की सुई दिन में एक बार 600000U की मात्रा में दी जाती है, दूसरी दवा तीन या चार दिन मे एक बार 1200000-1500000U की मात्रा में दी जाती है (पूरी चिकित्सा के दौरान 3000000 से 8000000U दी जाती है)।

आजकल पेनीसिलिन और इसके व्युत्पादो के विरुद्ध कोकी उद्भिजा (विशेषकर स्ताफिलोकोकों) की प्रतिरोधिता अवलोकित हो रही है। इसीलिये फुंसीक्लेश की चिकित्सा में अधिकाधिक महत्त्व विस्तृत स्पेक्ट्रम (परास) वाली दवाओं को दिया जा रहा है, जो प्रतिजीवाणुक प्रभाव डालती हैं, जैसे—माक्रोलिड—एरीथ्रोमीसिन तथा ओलेआडोमीसिन और तेत्रासिक्लीन के साथ इनके मेल—ओलेतेत्रिन, सिग्मामीसिन और तेत्राओलेआन। प्रतिजीवको के प्रति रोगकारी जीवाणुओं की

संवेदिता की द्रुत जाच (जैसे प्रतिजीवलेख) की सहायता से किसी भी रोगी के लिए आवश्यक प्रतिजीवक ज्ञात किया जा सकता है, इन परीक्षणों के परिणाम 12 से 24 घटे मे प्राप्त हो जाते हैं।

कतिपय चर्मपूयनाओ और विशेषकर चिरकालिक फुंसीक्लेश की चिकित्सा म अर्धकृत्रिम पेनीसिलिनो का अब अधिकाधिक विस्तृत उपयोग हो रहा है। ये है—मेथीसिलिन (1 0g की अतर्पेशीय सुई प्रत्येक चार से छ घटे पर), और ओक्सासिलिन (0 25-0.5g की टिकियो या कैप्सूलों के रूप में प्रत्येक छ घटे पर, पाच दिनो तक, अंतर्पेशीय सुई द्वारा 0 25-0 5g की मात्रा दिन मे दो से चार बार)। प्रतिजीवको के साथ मुखमार्ग से प्रतिहिस्टामीनिक साधन देना वाछनीय है।

सुल्फोनामीड (सुल्फाथिआजोल, सुल्फादीमीदीन, सुल्फामेथोक्सीन, सुल्फामेथोक्सी-पीरीदाजीन) तथा अन्य प्रतिजीवाणुक प्रसाधन उनकी सामान्य अभिक्रिया के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। नित्रोफुरान के व्युत्पाद—फूराजोलीदोन फूराजोलिन, फूरादोनिन (नित्रोफूराटोइन) और फूरागिन (फूराजिन) पिछले समय से उन स्थितियों में प्रलिखित किये जाने लगे है, जब स्ताफिलोचर्मता प्रतिजीवको और सुल्फोनामीदो का प्रतिरोध करने लगती है। ये मुखमार्ग से 0.1g की टिकियों मे दिन मे दो या चार बार खाने के बाद दिये जाते है (चिकित्साकाल पाच-सात-दस दिन हो सकता है)। 12 महीने तक के पयोपा बच्चे के लिये फूराजोलिन की एक खुराक 0.01-0 015g है, 1 से 2 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.02g, 2 से 5 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.03-0.04g और 5 से 14 वर्ष तक के लिये 0 05g; यह दिन मे तीन या चार बार, खाने के 15 से 20 मिनट बाद दिया जाता है।

अकेली पुनरावर्ती फुसियो तथा चिरकालिक फुसीक्लेश में पैठन को नियत्रित करने के साथ-साथ शरीर की प्रतिकारी शक्ति बढाने के लिये अविशिष्ट स्फूर्तिदायक थेरापी (स्वरक्त-चिकित्सा) और स्ताफिलोकोक का टीका (बहुसयोजी या स्वटीका) स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद तथा एंटीफागिन से विशिष्ट इमूनी चिकित्सा (इमूनोथेरापी) की जाती है। कुटाली (जो टाले नहीं टले) या चिरस्थायी फुसीक्लेश मे गामा ग्लोबूलिन का उपयोग होता है।

मेदुरता, मधुमेह, आत्र-शैथिल्य, आतर अगो के रोगो, अल्परक्तता आदि की चिकित्सा चिरकालिक फुसीक्लेश से पीडित व्यक्तियो के उपचार-संकुल का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। ऐसे रोगियो का आहार सुपाच्य होना चाहिए, चटपटा व मसालेदार नही होना चाहिए। अल्कोहलिक पेय वर्जित है। विटामिन 'ए', 'सी' और 'बी-सकुल' के साथ-साथ लोहा तथा फोस्फोरस के प्रसाधन (फीतोफेरोलाक्तोल, 15 से 20 दिनो तक एक-एक गोली दिन में तीन बार) वाछनीय है।

फुसी के गिर्द त्वचा को सैलीसीलिक अल्कोहल, कैफर स्पीरिट, इथर, बेंजीन

या वाट्का स निर्मोचित किया जाता है [illegible] प्रकार [illegible]

कार दिये जाते है (याद नहीं जाते [illegible]), ताकि [illegible]

विकास रोका जा सके। यह काम प्रस्त [illegible] जाता है। इसके बाद बालों को फुसी [illegible] जाता है और शुद्ध इख्थ्यामोल लगाकर निर्जीवाणुक [illegible] जाता है। इख्थ्यामोल में वर्कग्यानाशक, [illegible] ([illegible]) [illegible] वेदनाहारी तथा प्रतिशोथी गुण होते हैं। इख्थ्यामोल [illegible] दिन मे एक या दो बार लगाया जाता है। पहले से लगे इख्थ्यामोल को गुनगुने पानी से दूर किया जाता है, पट्टी की आवश्यकता नहीं होती। यदि फुसी का मुह नहीं खुला है, तो ऐसी चिकित्सा से गदलोथनी प्रक्रिया का विकास कभी-कभी आगे नहीं बढ पाता। फुसी का मुह खोलने के बाद ड्रेसिंग (मरहम-पट्टी) की जाती है - व्रण पर अतितानी नमकीन घोल की पट्टी रखी जाती है और इसके परिसर में शुद्ध इख्थ्यामोल लेपा जाता है। कभी-कभी फुसी पर पारद प्लास्टर (मर्क्यूरी प्लास्टर) लगाया जाता है, फुसी का मुह खुलने पर मलहम लगाया जाता है - 5 प्रतिशत केफर-इख्थ्यामोल का मलहम, विश्नेव्स्की का मलहम (3 भाग तार, 3 भाग क्सेरोफॉर्म 94 भाग अंडी का तेल), 2 प्रतिशत अमानीकृत पारे का, 10 प्रतिशत इख्थ्यामोल का, 1-2 प्रतिशत पीले पारद आक्साइड का, 5 प्रतिशत क्लोरोलिनोमिक्सीन या एरीथ्रोमीसिन का, या डीबिओमीसिन का मलहम। शुष्क ताप (हीटर, सॉलुक्स, मीनिन का परावर्तन) या परा-उच्चावृत्तिक विद्युचुबकीय क्षेत्र के प्रति अनावरण वाछनीय है। आर्द्र ताप (गीली पुल्टिस) और जल-क्रिया रागकाल में वर्जित है। फुसी के विद्रधि मे परिणत होने पर करोर्जन और तीव्र प्रतिजीवकर्थेरापी का उपयोग (इमूनी चिकित्सा के साथ) वाछनीय है, इमूनी चिकित्सा--अति-इमूनी गामा ग्लोबूलिन, अति-इमूनी एटीस्ताफिलोकोकी प्लाज्मा, स्ताफिलोकोकी तोक्सोइड।

भविष्य--एकल (अकेली) फुसियो की स्थिति में (यदि वे चेहरे पर नहीं हैं) भविष्य हमेशा अनुकूल होता है। चिरकालिक फुसीक्लश की स्थिति मे (विशेषकर प्रोढ या अधेड़ व्यक्तियों मे, दुर्बल रोगियों मे, मधुमेह से पीड़ित लोगों में), क्लिष्ट फुसियो तथा सृपन की स्थितियों मे भविष्य गभीर चिंताजनक हो जाता है।

कोलफुंसी

कोलफुसी सुचर्म एव अवचर्म की गहरी परतो तक विसरित पूयसृतिक शोथ की प्रक्रिया है, जिसकी चपेट मे पास-पडोस की लोम-मशिकाए भी आ जाती है। फुसी से इसकी भिन्नता इस बात मे है कि इसमे पूयसृतिक अतस्यद अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र मे फैल जाते है और सुचर्म एव अवचर्म को बधते हुए उनकी गहरी

पर्तों तक विसरित हो जाते है।

इस क्षति का नाम कार्बुकुल या कोलफुसी है (लातीनी 'कार्बो' —कोयला चारकोल), क्योंकि पूयमूनिक शोथ के दरम्यान बना हुआ विमृत क्षेत्र अलकतरे की तरह काला होता है।

इसके प्रिय स्थल है—पश्च कपाल, पीठ और कमर।

निमित्त कारण अधिकाशत सुनहरे स्ताफिलोकोक है, स्ताफिलोकोक की अन्य जातियों से यह कम ही उत्पन्न होता है।

गदजनन को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न है—दुर्बलता (चिरकालिक कुपोषण अथवा किसी तीव्र कायिक रोग से), द्रव्य-विनिमय की गडबड़ी (विशेषकर कार्बोहाइड्रेट के विनिमय मे गड़बड़ी, जैसे मधुमेह में)।

तल्पिक चित्र और रोग-प्रवाह—शुरू शुरू मे चर्म मे चद अलग-थलग कठोर पर्विकाए अवलोकित होती है, जो मिलकर एकीकृत अतर्स्यद बना लेती हे। यह अतर्स्यद बढता है, कभी-कभी तो बच्चे की हथेली के बराबर भी हो जाता हे। इसकी सतह अर्धवर्तुली हो जाती है, त्वचा तन जाती है और मध्य मे नीलाभ हो जाती है। स्थानिक कोमलता अवलोकित होती है। यह अतर्स्यद के विकास का प्रथम चरण है, जिसमें 8 से 12 दिन लगते हैं। इसके बाद अंतर्स्यदन-क्षेत्र में चद पी[illegible]काए बनती हे, जिनके मुह खुल जाते है। कई खुले मुहों के कारण कोलफुसी मो[illegible]छद वाली चलनी (या छनौटे) की तरह दिखने लगती है। इन मुहानो से रक्त-मिश्रित पूय और हरा विमृतिक द्रव्य स्रावित होते है। कोलफुसी के मध्य मे विमृत क्षेत्र का आकार निरतर बढता जाता है। द्रव्यो के बाहर निकलने से ऊतको मे एक विस्तृत क्षति (एक व्रण) उत्पन्न हो जाती है, जो पेशियों तक पहुच जाती हे। यह दूसरा चरण, पूयन और विमरण का चरण, 14 से 20 दिनो तक चलता हे। इसके बाद व्रण कणमय ऊतकों से भर जाता है और नीचे के ऊतको के साथ सगलित एक गहरा और रूखडा दाग बन जाता है। बडे दाग कोलफुसी के ऑपरेशन से भी रह जाते हैं।

कोलफुसी अक्सर एकल क्षति के रूप में उत्पन्न होती है। इसके विकास के साथ-साथ तेज बुखार आता है, टभकने की मर्मभेदी पीडा होती है, ठंड लगती है, चित्त अवसन्न रहता है। बुढापे मे, तीव्र पारमेह के कृश रोगी में और नाविक-मानसिक अतितनाव की स्थिति मे कोलफुसी का प्रवाह दुर्दम रूप धारण कर सकता है। ऐसी स्थितिया नवंशूलिक वेदना, विक्षिप्ति या गहन अवलुठन तथा सृपनजनित ज्वर से लक्षित होती है। बडी कुभी से अत्यधिक रक्तस्राव या सृपन के कारण मृत्यु भी हो सकती है। जब कोलफुसी नाक [illegible] ऊपरी होठ के क्षेत्र मे स्थित होती है, तो तीव्र छादिकीय क्लिष्टता उत्पन्न होने [illegible] खतरा रहता है।

निदान कठिन नहीं है। आधारक्स कार्बंकल को भी ध्यान में रखना चाहिए जो कोलफुसी के ही सदृश होती है, लेकिन इसमें ज्यादा गहरा और ज्यादा व्यापक एवं वर्धित होता है, पीपिका में कोयले (आधारकोश) सा पिगमेंट सूखी काली पपड़ी पड जाती है (इसीलिये नाम पड़ा है—आधारक्स), और इसका निमित्त कारण भी अलग होता है—अगर्भाविक ग्राम पोजीटिव आधारक्स बैसिलस। कोलफुसी और कार्बंकल मे भेद करना आसान है, इसके लिये ऊपर वर्णित नैदानिक चिह्न को ध्यान में रखना पर्याप्त है।

ऊतगदलोचन—सुचर्म और अधश्चर्म के निचले भागों का गहरा विमृति होती जाती है। विमृति (विमरण) धीरे-धीरे परिसर की ओर फैलने लगती है। गलन के ये अड्डे न्युट्रोफिलो के मोटे अतस्यंद में होते हैं।

चिकित्सा—कोलफुसी की चिकित्सा मे सदा सामान्य युक्तियों को भी शामिल किया जाता है और वह फुसी की चिकित्सा से बहुत भिन्न नहीं होती। तीव्र स्थितियो में प्रतिजीवक के साथ सुल्फोनामीद दिये जाते हैं। रश्मि चिकित्सा (रेडियो-चिकित्सा) भी इस रोग में लाभ पहुचाती है। कोलफुसी यदि तेजी से बढ़ रही हो तो उस पर गुणा की आकृति का चीरा लगाकर विमृत क्षेत्र को बाहर कर देना सुसकेतित है। यह काम नियमतः करार्जक करते हैं। साथ-साथ प्रतिजीवक-चिकित्सा भी चलती है (500000U स्ट्रेप्टोमीसिन की सुई दिन में दो बार, साथ-साथ प्रतिदिन 1000000U पेनीसीलिन की सुई या इसके समतुल्य अन्य दवाओ की सुइया)। कोलफुसी के गिर्द त्वचा को 2 प्रतिशत बोरिक स्पीरिट या सैलीसीलिक अम्ल से दिन में दो बार अनिवार्य रूप से निर्ष्पीडित किया जाता है, सभी खरोंचों और निस्त्वचन पर कास्तेलानी के पेंट का अथवा आयोडीन के अल्कोहलिक घोल का लेप लगाया जाता है।

भविष्यवाणी—भविष्यवाणी रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती है।

स्वेदग्रंथिशोथ

यह काख (अक्सर एकतरफा) या जंघामूलीय चर्म-मोड पर स्थित अपस्रावी स्वेदग्रथियो का पूयिक शोथ है। कभी-कभी यह चुचुकों, बृहत भगोष्ठों, फोता, पृष्ठद्वार आदि के भी क्षेत्रों मे होता है।

हेतुलोचन—इसका सामान्यतम निमित्त कारण सुनहरे स्टाफिलोकोक है, जो लोम-मशिकाओं के मुहाने से होकर अपस्रावी ग्रंथियो की अपवाही नलियो में प्रविष्ट हो जाते है।

गदजनन—इस रोग के प्रवणकारी घटक निम्न है—शरीर की सामान्य दुर्बलता, अतिस्वेदन, काख, जघामूली तहों तथा पृष्ठद्वार पर क्षारीय प्रतिक्रिया

वाला स्वद विशेषकर उन लोगों मे जिन्हे सफाई की आदत नहीं होता मसृणन सूक्ष्म घाव, हजामत के समय कटना, नाविक एव अतस्रावी गडबडियो (पारमेह जनन-ग्रथि की गडबडी) वाले लोगो मे कडुक चर्मक्लेश के स्थलो पर खरोच (नोचने से) तथा स्थानिक प्रतिरोध मे कमी। स्वेदक अपवाही ग्रंथिया सिर्फ यौनपरिपक्वता-काल मे विकसित होती है (लड़कियों मे लडकों की अपेक्षा कुछ पहले)। स्त्रियो में उनकी संख्या पुरुषो से अधिक होती है, स्त्रियों मे यह रोग अवलोकित भी अधिक होता है। बुढापे मे इन ग्रथियो की क्रियाशीलता निर्वाप्त हो जाती हे (बुझ जाती है), इसीलिये बुढापे में यह रोग नही होता।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—शुरू-शुरू सुचर्म और अवचर्म की गहराइयो मे टीले जैसे अलग-थलग पर्व (गांठ) परिस्पर्शित होते है। रोगी को हल्की खुजली या पीडा महसूस होती है। पर्व आकार मे शीघ्र बडे होते है, चर्म से चिपक जाते है (नीचे से) और नाशपाती की आकृति ग्रहण कर लेते है, उनका ऊपरी उभार 'कुतिया के थन' की तरह चुचुकाकार होता है। त्वचा नीली-लाल हो जाती है, ऊतक मे शोफ बढ जाता है, पीडा भी साथ-साथ बढती है। असपृक्त (एक-दूसरे से पृथक्) पर्व अक्सर संलीन हो जाते हें, उनमें मुलायमियत आ जाती है, फिर सिहरन उत्पन्न होती है, जिसके बाद उनका मुह अपने-आप खुल जाता हे और उनमे से रक्त-मिश्रित गाढा पूय स्रावित होता हे। विमृतिक क्रोड नहीं बनता। कभी-कभी फ्लेग्मोन (दाहक फोडा) से मिलता-जुलता एक चकतीनुमा विसरित अतर्स्यद बन जाता हे, इस स्थिति मे पीडा सिर्फ चलने-फिरने मे ही नही, विश्राम के वक्त भी होती है, रोगी अशक्त हो जाता है। क्षति की परिपक्वता के साथ-साथ अस्वस्थता बढती है, तापक्रम कुछ ऊचा हो जाता है, पीड़ा तेज होती है। गाठ (पर्व) का मुंह खुलने पर उसमें तनाव और पीडा की अनुभूति कम हो जाती है, व्रण कुछ दिनो में ठीक हो जाता है (अंतर्स्यद को विलीन होने मे कुछ अधिक समय लगता है)। पुनरावर्तन अक्सर होता रहता है और इससे प्रक्रिया का प्रवाह विलबित हो जाता है। काक्षिक (काख का) स्वेदग्रथिशोथ एक तरफ होता है, पर दोतरफा क्षतियां भी देखने को मिलती है। स्वेदग्रथिशोथ औसतन 10 से 15 दिनो मे समाप्त हो जाता है, लेकिन विलबित प्रवाह भी बहुत अक्सर अवलोकित होता है (विशेषकर अतिस्वेद तथा पारमेह के रोगियो मे और उन व्यक्तियो मे, जो त्वचा की सफाई पर ध्यान कम देते है)।

ऊतगदलोचन—प्रक्रिया सुचर्म और अवचार्म वसा की विभाजक सीमा-रेखा द्वारा स्थानाबद्ध होती है। अपवाही ग्रंथि और उसके गिर्द स्थित योजक ऊतको को एक पूयिक अतर्स्यद आच्छादित कर लेता है, जिसमें शुरू-शुरू (आरंभिक चरण पर) मे मुख्यत न्युट्रोफिल ही होते है, पर बाद मे लसकोशिकाएं और प्लाज्मा-कोशिकाए

भी शामिल होने लगता है। इसके बाद [illegible] फैलता हुआ अन्य अस्थायी ग्रंथियों तथा निकटवर्ती ग्रंथियों [illegible] नम पूयिक संगलन उत्पन्न करके उन्हें भर देता है।

निदान—रोग की विशिष्ट स्थानावस्था [illegible] के कारण निदान बहुत सरलता के साथ हो जाता है। [illegible] स्वेदग्रंथिशोथ को फुंसी से विभेदित (पहचान) करना है। [illegible] का प्रवाह अधिक विलंबित होता है, [illegible] इसके अतिरिक्त, इसमें पीड़ा नहीं होती, विस्तृत [illegible] अनेक नासूर हो जाते हैं, जो ठीक होने के बाद [illegible] दाग छोड़ जाते हैं (नासूर—व्रण में दूर गहराई तक गया हुआ नलीनुमा छेद, जिसमें पीप बहकर निकलती है।—अनु.)।

चिकित्सा—आरंभिक चरण पर ही क्षति का विकास रोकने के लिये पराश्रव्य उच्चावृत्तिक विद्युतधारा, पराबैंगनी विकिरण, शुद्ध इक्थ्यामोल (केक'), एक्स-किरणों के उपयोग की सलाह दी जाती है। एक्सरे-चिकित्सा आवश्यकतानुसार तीन-चार दिनों पर दोहरायी भी जा सकती है; इसकी खुराक बहुत कम होती है - 50-80 r (रेंटगेन), 1-2 मिलीमीटर मोटे अलुमिनियम के फिल्टर (A1 फिल्टर), म [illegible], त्वचा-फोकस की दूरी 30-40 सेंटीमीटर; 120KV (किलोवोल्ट)। एक्सरे चिकित्सा उस स्थिति में भी लाभकर होती है, जब रोग में विलंबित प्रवाह ग्रहण करने की प्रवृत्ति आने लगती है और उसका पुनरावर्तन होने लगता है। सपूयजात (एक जगह जमा) विद्रधियों की स्थिति में कर्तोर्जन की सहायता ली जाती है। 0.5 1.0 प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल (8-10 मिलीलीटर) की सुई, पेनीसिलीन (300000-500000U) के साथ या तेत्रालेआन के जलीय घोल की सुई क्षति के गिर्द लगाने की सलाह दी जाती है, यदि अंतर्स्यदन और पीडा अत्यधिक होती हैं। इससे पैठन की घेराबंदी हो जाती है; यह काम हर एक दिन बीच देकर करना चाहिए, चिकित्सा चार या पांच बार में संपन्न हो जाती है। चिरकारी (चिरस्थायी) कुटाली तथा पुनरावर्ती स्वेदग्रंथिरोग में टीका से चिकित्सा एक विवेकसंगत उपाय है। अन्य बातों में इस रोग की चिकित्सा फुंसी जैसी ही होती है। निरोध (रोग की रोकथाम) सफाई की सही आदतों से होता है (शरीर को अक्सर साबुन व स्नान से साफ करना); कांख को सैलीसीलिक अल्कोहल या बोरो-कैंफर स्पीरिट से निष्पेठित करना चाहिए।

अब हम उन स्ताफिलोचर्मताओं का वर्णन करेंगे, जो मुख्यतः नवजात एवं पयोपा शिशुओं को होती हैं—वस्तिक पीपिका, पयोपा की बहुलित विद्रधि, नवजात शिशुओं में बहुमारिक (एपीडेमी शब्द का ऐतिहासिक अर्थ है महामारी अर्थात्

ऐसा रोग, जिससे पूरी की-पूरी आबादी नष्ट हो जाया करती थी। आयुर में इसका नया अर्थ है—किसी क्षेत्र-विशेष में किसी रोग का किसी खास प्रकार के लोगों के समूह पर एक ही समय आक्रमण; रोग का जानलेवा होना जरूरी नहीं है। 'महामारी' से इस अर्थ की भिन्नता दिखाने के लिए हिंदी आयुर्वि साहित्य में 'जानपदिक रोग' का प्रयोग शुरू हुआ। इससे कुछ हद तक काम चलाया जा सकता है, लेकिन अन्य शब्द व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते (एपीडेमिओलोजी ?)। 'बहमारी' शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है और यह अधिक व्युत्पादन क्षम है।—अनु) बुदबुदिया, रिट्टर (Ritter) द्वारा निरूपित अपशल्की चर्मशोथ और नवजात शिशु की बुल्लेदार बुदबुदिया।

वस्तिक पीपिका

ये ऐसी क्षतियां हैं, जो सामान्यतः नवजात शिशु के जीवन में प्रथम दिनों होती हैं। यह अवस्था पिन के सिर से लेकर मटर के दाने के आकार तक की असंख्य पीपिकाओं की उत्पत्ति द्वारा लक्षित होती है, इन पीपिकाओं में सफेद-पीला द्रव्य होता है और इनके परिसर में रक्तातिरेक और शोफ अवलोकित होता है।

हेतुलोचन रोग विभिन्न स्टाफिलोकोकी जातियों से उत्पन्न होता है।

गदजनन अतिस्वेदन से उत्पन्न मसृणन, अपरिपक्वता, दुर्बलता और कृत्रिम पोषण—ये सभी संप्रेरक घटक हैं।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—पेटन स्वेद-ग्रंथियों के मुहाने में शुरू होता है, जहां एक चमकदार अतिरक्तिल सीमा से घिरी नन्ही अ-स्रावी पीपिकाएं बनती हैं। जंघामूल और कांख पर त्वचा की सलवटें, शिरोवल्क और धड़ की त्वचा इस रोग के प्रिय स्थल हैं। कमजोर बच्चों में काफी विस्तृत क्षेत्र रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ जाते हैं; जो संलीन होने (आपस में मिलने) की प्रवृत्ति रखते हैं, क्षति काफी गहराई तक पहुंच जाती है।

निदान—अक्सर निदान में कोई खास कठिनाई नहीं होती। पूयचर्मता से क्लिष्ट खाज में वस्तिक पीपिकाएं हथेलियों, तलवों, नितंबों, पेट, नाभि के गिर्द तथा हाथों की ऋजुकारी (मुड़े हाथ को सीधा करने वाली) पेशी की सतह पर जोड़ियों में उत्पन्न होती हैं। जोड़ियों में बनी वस्तिक पीपिकाओं के बीच बिलों में खाज उत्पन्न करने वाली कुटकियों का पता लग जाने पर निदान सरल हो जाता है।

चिकित्सा और निरोध—रोग-काल में बच्चे को धोना या नहलाना अवांछनीय है। त्वचा के स्वस्थ क्षेत्रों पर कोई हल्का निष्पैठक घोल लेपना चाहिए। स्वेद कम करने का उपाय करना चाहिए। ग्रस्त क्षेत्रों पर अनीलीन रंजकों का जलीय व अल्कोहलिक घोल लगाना चाहिए।

पयोपा शिशु में बहुलित विद्रधि

पयोपा तथा छोटे बच्चों मे यह रोग तब होता है [illegible] अपस्रावी भाग तथा अपस्रावी स्वेद ग्रंथियो की गुच्छिकाओं में पहुंच जाता है।

हेतुलोचन–सुनहरे स्टाफिलोकोक इस रोग के निमित्त कारण माने जाते हैं लकिन अन्य जीवाणु भी सभव है–स्ट्रेप्टोकॉकस ;ैजतमचजवबवबबनेद्ध आंत्र-एशेरीखिया ;म्बीमतपबीप बवसपद्धए सामान्य प्रोटियस ,त्वजमने अनसहंतपेद्ध आदि।

गदजनन–गादिक अवस्था के विकास को सुगम करने में निम्न घटकों का योगदान हो सकता है–बच्चे की सफाई मे कमी, अतितापन (काफी गर्म कपड़े पहनाने से), भीगे कपडों को लबे समय तक नही बदलना, अतिस्वेदन (जिससे चर्म बहुत मुलायम व नम हो जाता है), आतरिक कुपोषण, अपर्याप्त आहार, गलत आहार, आत्रशोथ, सामान्य पैठन आदि। यह रोग अधिकाशतः अपरिपक्व नवजात शिशु मे पाया जाता है, या ऐसे बच्चे में, जिनका शारीरिक प्रतिरोध कम होता है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह–यदि स्वेद-ग्रंथि के अपवाही मार्ग का सिर्फ मुहाना पैठनग्रस्त होता है, तो छोटी (बाजरे के दाने के बराबर) सतही पीटिका (परिरध्रशोथ) बनती है, जो थोड़े ही समय में सूखकर खर्टा बना लेती है और बिना कोई निशान छोड़े ठीक हो जाती है। लेकिन सामान्यतः पूरा अपवाही मार्ग और स्वेद-ग्रथि का ऊपरी भाग पैठन-ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थितियो मे अनेक कठोर लाल-नीचे पर्व विकसित हो जाते है, उनकी पारस्परिक सीमा-रेखाएं स्पष्ट होती हैं। वे पहले मटर के दाने के बराबर होते हैं, फिर तेजी से बढ़कर बेर का आकार ग्रहण कर लेते हैं। पर्वो के केंद्र जल्द ही मुलायम हो जाते हैं, वहा चर्म पतला होता है और उसमे द्रव का जमाव परिस्पर्शित होता है। इसके बाद उनके मुह खुल जाते हे ओर रक्त-मिश्रित पतला पूय निकलता है। प्रक्रिया खत्म होने पर दाग रह जाता है। बहुलित विद्रधिया सामान्यत. उन स्थलों पर होती है, जहा शरीर बिस्तर को स्पर्श करता है (सिर का पिछला भाग, पीठ नितंब, जाघें)। जब कई दर्जन पर्व (गाठें) बन चुकते हैं, तब प्रक्रिया वक्ष और पेट की त्वचा तक फैल सकती है। शिशु की सामान्य अवस्था अधिकांश स्थितियो मे संतोषजनक ही रहती है, शरीर का तापक्रम विरले ही ऊंचा उठता है। दुर्बल पयोपा बच्चो में क्लिप्टताओं के उत्पन्न होने का खतरा रहता है, जैसे फ्लेग्मोन, मध्य कर्ण का शोथ, यकृत और प्लीहा की क्षति और यहां तक कि घातक सूपन भी शुरू हो सकता है। इन स्थितियों में स्फोट बारी-बारी से कभी यहा, तो कभी वहा उत्पन्न होते रहते हैं, बुखार और श्वेतकोशिकाक्लेश होते हैं, ESR बढ़ जाता है, व्रण लवे समय तक ठीक नही होते

विमृति स्वेद ग्रथियो क अपवाही भाग मे होती ह और सूचम नथा अवचर्म नक फैल जाती है। स्ताफिलोकोक और अन्य रोगकारी जीवाणुओ के वडे-वड जमघट स्वेदमार्ग (नली) के भीतर बन जाते है।

निदान--निदान पयोपा बच्चो मे गाठो (पर्वों) के भीतर विना तीव्र शोथ के द्रव की उपस्थिति के अनुवेदन पर आधारित होता है। इस उम्र मे फुसीक्लेश विरला ही होता है और यदि होता भी है, तो बहुत अल्प क्षतियों, तीव्र शोथ क लक्षणों और विमृतिक क्रोड के साथ ही होता है। परिरध्रशोथ को मशिकाशोथ से इतरित करना चाहिए, जिसमे क्षति सदैव लोम-मशिका और लोम-डठल से सबधित होती है; लोम-डठल पीपिका के केद्र मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, फुसी की तरह मशिकाशोथ भी अधिक उम्र के ही बच्चों में होता है। पयोपा वच्चे मे बहुलित विद्रधि का आरभ कुछ हद तक पिटकमृतिक गठिक्लेश के आरभिक चरण से मिलता-जुलता हो सकता है, जब क्षतियां शिरोवल्क तथा धड की त्वचा तक ही सीमित रहती है और पनीर जैसी विमृति विकसित नहीं हुई रहती है। अन्य अगों मे गठिक्लेश की अभिव्यक्तियो तथा पिर्के (piiquet) की प्रतिक्रिया के परिणामो को भी ध्यान म रखना पड़ता है। कभी-कभी इस रोग को कठमालचर्मता से भी इतरित करना पड़ता है, जो अक्सर अलग-थलग क्षतियो के रूप मे उत्पन्न होती है। कठमालचर्मता मे क्षति का मध्य भाग जल्द ही गलकर खुल जाता है और अत्यल्प सीरमी स्राव वाले व्रण में परिणत हो जाता है, जिसमें कणीकरण बहुत मंद गति से होता है।

चिकित्सा और निरोध—निरोध विशेष महत्त्वपूर्ण है—बच्चे की देख-भाल मे सफाई, समय पर नहलाने, पोतडो और अन्य वस्त्रो को बदलने आदि के काम को प्राथमिकता देनी चाहिए। हाइजिनिक पाउडर, युक्तिसगत आहार, अतितापन से रक्षा आदि भी आवश्यक उपाय है।

विद्रधि पर शुद्ध इख्थ्यामोल ('केक' क रूप मे) लगाया जाता है। आवश्यकता होने पर विद्रधि को करोर्जिक विधियो से खोला जा सकता है। स्वस्थ त्वचा को कैंफर स्पीरिट से पोंछना चाहिए।

स्नान कुछ समय के लिये रोक देना चाहिए। प्रतिजीवक, सुल्फोनामीड, अन्य स्फूर्तिदायक उपाय, मा के रक्त तथा गामा ग्लोबूलिन की सुई आदि प्रलिखित की जाती हैं। यदि सुसकेतित हो, तो अनपच और स्थानाबद्ध पैठन के अड्डे की भी चिकित्सा करनी चाहिए।

भविष्यवाणी पर बहुत सावधानी से विचार करना चाहिए। दुर्बल बच्चों मे, क्लिष्टताए होने पर या सहवर्ती न्युमोनिया (क्लोमशोथ), एंटेरोकोलीटिस होने पर अच्छी भविष्यवाणी नही की जा सकती

नवजात शिशुओं में जानपदिक बुदबुदिया

यह रोग नवजात शिशुओं के लिए [illegible] के तीव्र विस्तार और प्रसार द्वारा [illegible]

हेतुलोचन—[illegible] वैज्ञानिकों की धारणा है कि यह रोग [illegible] या शायद स्ट्रेप्टोकोकाई के कारण होता है, [illegible] कारण कोई निश्चय नहीं है।

गदजनन—रोग-विकास में महत्वपूर्ण भूमिका [illegible] शिशु के चर्म की अपनी एक विशिष्ट प्रतिक्रियाशीलता [illegible] के विरुद्ध वस्तिकाओं के विकास में व्यक्त होती है, [illegible] तथा सगर्भता-काल में गरलता भी संप्रेरक घटक है।

बहुमारीलोचन—रोग बहुत ही छूतहा है। पटन के मुख्य स्रोत आतुर के कार्यकर्मी (नर्स, कंपाउंडर आदि), [illegible] बच्चे में पूयिक अड्डे होते हैं (उदाहरणार्थ, नाभि [illegible] में [illegible])। [illegible] व्यक्ति भी पटन फैला सकते हैं। रोग की बहुमारिकता [illegible] सकती है, जहा बीमार नवजात शिशु में [illegible] कार्यकर्ता [illegible] स्वस्थ बच्चों तक पहुंच सकता है। यदि बहुमारी [illegible], तो शिशु [illegible] बंद कर देना चाहिए और क्रमशः बच्चों को निर्णोदित करना चाहिए। [illegible] बच्चे बीमार हों, तो उन्हें अलग कर देना चाहिए। इस तरह के [illegible] है कि वासिल के वाहक व्यक्ति का किसी दूसरी जगह (काम पर) स्थानान्तरण कर देने से रोग के नये केस नहीं उत्पन्न होते और बहुमारी उन्मूलित हो जाती है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—रोग शिशु के जन्म के बाद प्रथम दिनों या सातवें से दसवें दिन शुरू होता है। त्वचा पर, जो पहले साफ या हल्की रक्ताभिक थी, मटर के आकार के छोटे बुल्ले (या कुछ बड़े भी) कुछ ही घंटों में उत्पन्न हो जाते हैं। इससे पूर्व बच्चे में बेचैनी और ज्वर अवलोकित होता है। बुल्लों का अतर्द्रव्य धुधला और पूयिक हो जाता है। फिर बुल्लों का आकार बढ़ता है और पूरे शरीर पर छाने लगते हैं, उनकी चोटिया (शीर्ष) फटती हैं और चमकीली लाल, आर्द्र और खुजलीग्रस्त अपरदित सतह अनावृत होती है (दिखायी पड़ता है), परिसर पर अधिचर्म के अवशेष होते हैं। अपरदन से निकला स्राव सीरमी पूयिक खड्डी बनाता है। रोग के प्रिय स्थल, नाभि, पेट, वक्ष, पीठ, नितंब और हाथ-पैर हैं। प्रक्रिया मुंह, नाक, जननेंद्रिय और आखों की श्लेष्मल झिल्ली पर भी फैल सकती है। इन स्थलों पर बुल्ला बहुत जल्द फट जाता है और उसकी जगह पर गोल, अंडाकार या बहुचक्रीय आकृति की अपरदित सतह रह जाती है (बुल्ले की आकृति

के अनुसार)। कमजोर तथा अपरिपक्व पयोपा बच्चों में यह रोग बहुत तेजी से फैलता है (फटे बुल्ला में से पीप के स्वपेठन से)। बच्चा बेचैन हो जाता है, ठीक से सो नहीं पाता, शरीर का तापक्रम 38-39°C हो जाता है; अनभुख श्वेतकोशिकाक्लेश, एओसीनोफीलिया तथा ESR वर्धन भी अवलोकित होता है। इन स्थितियों में अनेक क्लिष्टताएं उत्पन्न हो सकती हैं—कर्णशोथ, क्लोमशोथ, फ्लेगमान और यहां तक कि सूपन भी।

मध्यमार्गिक बुदबुदिया (रह-रहकर) विस्फोट की तरह होता है, एक साथ ढेर सारे बुल्ले थोड़े-थोड़े समय पर निकल आते हैं। स्फोटन रुकने पर कुछ समय बाद उनका पुनरावर्तन भी हो सकता है। यदि कोई क्लिष्टता उत्पन्न नहीं होती, तो रोग तीन से पांच सप्ताह में ठीक हो जाता है।

ऊतगदलोचन—बुल्ला का शीर्ष सामान्य शृंगी परत से बना होता है और आधार काटल परत से। बुल्ला के कोटर में श्वेतकोशिकाएं, काटल परत की मृत कोशिकाएं तथा रोगकारी जीवाणु होते हैं। वस्तिकाएं शोफित होती हैं और कुभियों के गिर्द हल्का अतर्स्यदन होता है।

निदान—निदान प्रथम दो सप्ताह में बुल्लों के निकलने की बारी (पाली) पर, उनके द्रुत विकास और उनके आधार (तली) में अंतर्स्यंद की अनुपस्थिति पर आधारित होता है। विभेदक निदान सबसे पहले सीफिलिक बुदबुदिया और जन्मजात अधिचर्मलयता के साथ किया जाता है, जो जन्म के समय उत्पन्न होती है। नवजात की सीफिलिक बुदबुदिया में बुल्ला अतर्स्यंदित आधार (तली) के साथ मुख्यतः हथेलियों, तलवों और नितबों पर होता है। इसके अतिरिक्त आरंभिक सीफिलिस के लक्षण पाये जाते है। सीफिलिक नासाशोथ, वस्तिकाएं, होखजिगर (Hochsinger) द्वारा वर्णित विसरित अतर्स्यदन, बुल्ला से निकले स्राव में त्रेपोनेमा पालीडुम का पता लगना, लंबी गंठिक अस्थियों पर प्रभाव, वासरमान (Wassermann) द्वारा निरूपित परीक्षण के धनात्मक परिणाम, प्रेसीपीटिन प्रतिक्रिया, त्रे. पालीडुम के निश्चलीकरण का परीक्षण आदि। जन्मजात अधिचर्मलयता में बुल्ले चर्म के उन्हीं क्षेत्रों में स्थानाबद्ध होते हैं, जहां चोट आयी रहती है, नवजात शिशु में ये स्थल है—सिर, कंधे, पैर। बुल्लानुमा क्षतियां बहुत अल्प संख्या में होती हैं (कहीं-कहीं एकाध)। शोथ अक्सर नहीं होता, या मुश्किल से व्यक्त रूप में होता है। जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलयता का कुपोषी रूप नखों, दांतों तथा बालों में कुपोषज परिवर्तनों द्वारा लक्षित होता है। छोटी शीतला (चिकेन पौक्स) में पीपिकाएं अपने स्वच्छ पीताभ अतर्द्रव्य के कारण वस्तिकाओं और बुल्लाओं से मिलती-जुलती है। गोल (वर्तुली) तनी हुई पीपिका के मध्य में कुछ दबा हुआ स्थल एक महत्त्वपूर्ण निदानिक लक्षण है। परिसर में पीपिकाएं हल्के शोफित अति

रक्तिल ऊतक के सकर फुन्सियाँ म छिपी होती है और शीतला की पाटिकाएँ विरले ही फटती है उनका अंतद्रव्य सूखकर पूय सीगर्मा खुर्ड में परिणत हो जाता है।

चिकित्सा—बुल्ला का मुंह खोलकर अधिचर्म अवशेषों को सावधानीपूर्वक निकाला जाता है। अपरदन पर 5 प्रतिशत बोरिक अम्ल और नाफ्थालान का मलहम, या 3-5 प्रतिशत सुल्फोनामीद तथा 2-3 प्रतिशत प्रतिजीवकों से युक्त मलहम, या अनीलीन रंजकों का 1 प्रतिशत घोल लगाया जाता है। गुनगुने पानी मे पोटाशियम परमैगनेट घोलकर स्नान या धोने की सलाह दी जाती है। तीव्र एवं विस्तृत क्षतियो की स्थिति में प्रतिजीवकों, सुल्फोनामीड और बी-संकुल के विटामिनो से सामान्य चिकित्सा की जाती है, इसी उद्देश्य से मा के रक्त की सुई भी दी जाती है। विशेष तीव्र स्थिति में (जब रोग चर्मारुण रूप में होता है) कोर्टिकोस्टेरोइडों से शिशु की प्राण-रक्षा हो सकती है। बच्चे की चिकित्सा और देखभाल मे पूर्ण सफाई रखना परमावश्यक है।

निरोध—कपड़े, वस्त्र आदि कम अंतरालों पर बदलते रहना चाहिए। प्रसूति-गृह मे परिचारिकाओं तथा माओं को हाइजिन के सिद्धांतों से अवगत होना चाहिए और नवजात शिशु के पास आने से पहले मुंह-नाक पर गजी (जालीदार सूती कपड़े) का टुकड़ा बाध लेना चाहिए। नर्सो, प्रसूतकों, धाया आदि सभी कर्मचारियों की समय-समय पर जांच होनी चाहिए, ताकि यदि उनमे चर्मपूयता का अधिकेंद्र (अड्डा) हो, तो ठीक समय पर पता चल जाये। यदि किसी मे चर्मपूयता का अधिकेंद्र मिले, तो उसे अस्थायी तौर पर किसी अन्य काम पर स्थानांतरित कर देना चाहिए। नेटा (नासा-स्राव) तथा गले के खखार का भी परीक्षण करना चाहिए कि कोई वासिलो का वाहक तो नहीं है। कक्षाओं को क्वार्टस्-लैंप से विकिरणित करना चाहिए और सभी प्रकार की सफाई भीगे कपड़े से करनी चाहिए।

भविष्यवाणी नवजात शिशु की प्रतिरोध-क्षमता, उसकी प्रतिकारिता-शक्ति और शरीर मे रोग के फैलाव पर निर्भर करती है। रोग के सुदम रूप में वह अच्छी होती है और दुर्दम रूप से वह गंभीर भी हो सकती है। प्रतिजीवकों के आविष्कार से पहले बहुमारिक बुदबुदिया से मृत्यु की दर 50 से 60 प्रतिशत तक थी। अब वह बहुत घट गयी है।

रिट्टर का रोग (नवजात शिशु में अपशल्की चर्मशोथ)

कुछ वैज्ञानिक इसे नवजात शिशु में अधिचर्म बुदबुदिया का ही तीव्र रूप मानते है, जबकि अन्य वैज्ञानिक दोनो को अलग-अलग रोग मानते है। प्रथम मान्यता इनके अस्थायी तल्पिक रूपो इनके छतहापन और प्राथमिक क्षतियों की

विशेषताओ पर आधारित है।

हेतुलोचन—अधिकाश वैज्ञानिक अपशल्की चर्मशोथ को स्ताफिलोकोको के पेठन से उत्पन्न मानते हैं (अधिकांश उदाहरणों मे सुनहरे स्ताफिलोकोक ही गदजनक पाये गये है)। कुछ वैज्ञानिक इसे स्ताफिलोकोको और स्त्रेप्तोकोको के मिश्रित पेठन से उत्पन्न मानते हैं, क्योंकि कुछ उदाहरणो मे स्त्रेप्तोकोको का वहुगुणन भी देखा गया है।

गदजनन की युक्तियां दोनों ही रोगों मे एक जैसी हैं।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—नवजात मे वहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग भी जन्म के बाद प्रथम सप्ताह के ही दौरान होता है। पहले मुह में एक चमकदार शोफित शोथी ललामी उत्पन्न होती है, जो जल्द ही गले की सलवटो पर और नाभि, जननेंद्रिय व पृष्ठद्वार के गिर्द फैल जाती है। इसकी पृष्ठभूमि पर बडे-बडे वर्तुली एवं तनावपूर्ण बुल्ले उत्पन्न होते हैं, जो जल्द ही फट जाते है और उनके स्थान पर स्रावयुक्त अपरदित सतह रह जाती है। हल्की क्षति से भी शोफित एव ढीली अधिचर्म अपनी जगह से उघड जाता है। जब अपरदनो के गिर्द स्थित अधिचर्म की धज्जियो को चिमटे से खीचा जाता है, तो वे नीचे की परतों से अलग हो जाती हैं—यहा तक कि स्वस्थ दिखने वाली त्वचा पर भी दूर-दूर तक (इसे निकोल्स्की-निरूपित धनात्मक चिह्न कहते है)। इसके पूर्ववर्ती लक्षण या तो बिल्कुल नहीं होते, या मतली और ज्वर में व्यक्त होते हैं। कुछ स्थितियो मे बुल्लानुमा स्फोट शुरू में रहते है पर बाद मे रोग चर्मारुणता के लक्षण ग्रहण कर लेता है। कुछ रोगियों मे यह रोग चर्मारुणिक परिवर्तनो की उत्पत्ति से शुरू होता है। ऐसी स्थिति मे चर्म की लगभग सारी सतह दो-तीन दिनो मे रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ जाती है। रोग के तीन चरणों में भेद किया जाता है—ललामिक, अपशल्की, नवजनक। प्रथम चरण में त्वचा विसरित रूप से लाल होती है, शोफ होता है। बुल्ला उत्पन्न होते हैं। अधिचर्म मे और इसके नीचे रिसाव होता है, जिससे निस्त्वचन शुरू होता है, जगह-जगह पर अधिचर्म उघड जाता है (निकोल्स्की-निरूपित लक्षण)। द्वितीय चरण अपरदनों द्वारा लछित होता है, जो परिसरीय प्रसार की प्रवृत्ति रखते हैं और सलीन हो जाते हैं। यह सबसे गभीर काल होता है (बच्चा द्वितीय, कोटि के झुलसन से ग्रस्त रोगी की तरह लगता है। उच्च ज्वर, अनपच, अल्परक्तता, श्वेतकोशिकाक्लेश, एओजीनोफीलिया, उच्च ESR, भार में कमी, निर्बलता आदि अवलोकित होते है। तृतीय, नवजनक चरण मे चर्म का रक्तातिरेक और शोफ कम हो जाते हैं, अपरदन पर उपकला का जन्म होने लगता है।

रोग के हल्के रूप मे इन चरणो की प्रकृति इतनी स्पष्ट नहीं होती। तीव्र

शोथ 10 से 14 दिनो मे दूर हो जाता है और अधिचर्म के बहुपर्णीय नि:शल्कन की प्रचुरता देखी जाती है। तीव्र केसो में प्रक्रिया सूपन के रूप ग्रहण कर लेती है और अक्सर क्लिष्टताए भी उत्पन्न होती हैं (कर्णमूलशोथ, फुफ्फुसशोथ, पूतिरक्तीय प्रक्रियाए, फ्लेगमोन), जो घातक सिद्ध हो सकती है। कुछ बडे नवजात शिशुओ मे रोग का प्रवाह कुछ सुदम होता है।

नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग-प्रक्रिया भी मुह, होठो, नाक और जननेंद्रियो की श्लेष्मल झिल्ली पर फैल सकती है; तब साथ मे अपरदन और फटाव भी होता है (मुह के कोनो पर, होठो पर)।

ऊतगदलोचन—अधिचर्म में रिसाव से शृगी परत में उभार उत्पन्न हो जाता है या वह बिल्कुल खत्म हो जाती है। काटल, पिटकामय एव अवपिटिकामय मे स्पष्ट शोफ उत्पन्न होता है, रक्तकुंभियो का विस्फारण हो जाता है और श्वेतकोशिकीय अतर्स्यंद बन जाते हैं।

निदान के आधार है—नवजात शिशु के जीवन के प्रथम दो या तीन सप्ताह के अन्दर चर्म मे विस्तृत शोथी परिवर्तन (साथ-साथ बुल्ला उत्पन्न होते है, जो चोडयो के रूप मे अपशल्कन को स्थान देते हुए गायब हो जाते हैं), रोग की हठात शुरूआत और तीव्र प्रवाह जो कभी-कभी तीव्र सांगोपाग अवस्था द्वारा लक्षित होता है, क्षतियो की विशिष्ट स्थानाबद्धता, धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और रक्त मे रूपलोचनी परिवर्तन।

विभेदक निदान दग्ध, बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्रारभिक जन्मजात सीफिलिस की बुदबुदिया, लाइनर-रोग (अपशल्की चर्मारुणता) तथा जन्मजात मीनचर्मता-सदृश चर्मारुणता के साथ किया जाता है। दग्ध की सभावना रोग-वृत्ति के आधार पर त्यागी जा सकती है। बुल्लेदार अधिचर्मलय और सीफिलिसी बुदबुदिया से भिन्नता दिखाने वाले लक्षण पूर्ववर्ती अनुच्छेद में बताये गये हैं। लाइनर-रोग बडी उम्र के बच्चो मे होता है, यह ललामिक-अपशल्की क्षतियो द्वारा लछित होता है; इसमे बुल्ला नहीं बनते, लेकिन पृष्ठद्वार और जननेंद्रिय के क्षेत्र (वृहत्त चर्म सलवटो पर) पूरी तरह ग्रस्त हो जाते है। क्षतियां धड़, चेहरे और शिरोवल्क पर होती हैं, जिनका अधिकतम विकास जीवन के द्वितीय महीने में होता है। इसके बाद अपशल्की चर्मशोथ गायब हो जाता है। अपरदन कम चमकदार होते है, वे रसालु-से दिखते है। क्षतियो का रग पीताभ होता है; शल्क तैल तथा पीताभ होते हे (इन लक्षणो के कारण अपशल्की चर्मारुणता वपास्रावी दिनाई की तरह लगती है)। जन्मजात मीनचर्मता सदृश चर्मारुणता का बुल्लेदार रूप जन्म के पूर्व ही विकसित होने लगता है और बुल्लो, अपरदनों तथा व्रणों से युक्त चर्मारुणता के रूप में व्यक्त होता है (जो चोट लगने वाली जगहो पर अधिक स्पष्ट होता है)। हथेलियो और

तलवों पर अतिश्रृगन होता है। इन सभी लक्षणो के साथ-साथ अस्थियो तथा दातो की विसगति और क्षीण वुद्धि का भी सम्मेल हो जाता है। रोग का विकास शरीर के सामान्य तापक्रम और रक्त के सामान्य रूपलोचन के परिप्रेक्ष्य मे होता है।

चिकित्सा—ऐसे रोगियो की चिकित्सा अपेक्षाकृत कठिन है और इसमे चर्मलोचक व बालरोग-विशेषज्ञ के सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता होती है। पहले विवेकसगत आहार निश्चित करना चाहिए और सफाई का पूरा ख्याल रखना चाहिए। ठड़ से बचाना चाहिए (शीतलतादायक लोशन और पुल्टिस प्रतिसकेतित है)। बाह्य चिकित्सा में प्रतिशोथी प्रभाव डालने तथा पूय-खड्डियो को हटाने के लिये चरणगत थेरापी के रूप मे निम्न दवाए प्रलिखित होती है—5 प्रतिशत नेओमीसिन, गेलिओमीसिन या डीविओमीसिन से युक्त महलम; 0.5-1.0-3 0 प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन या 5 प्रतिशत पोलीमिक्सीन से युक्त मलहम। सीमित क्षेत्रों पर कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोनो और प्रतिजीविकों से युक्त मलहम एव क्रीम भी प्रयुक्त हो सकते है, जैसे—लोकाकोर्टेन, ओक्सीकोर्ट, गेओकोर्टन, डेर्मोजोलोन। सामान्य (सागोंपांग) थेरापी में पेनीसिलिन या तेत्रासिक्लीन-यौगिक, सुल्फोनीलामीद (सूक्ष्मतृणो की सवेदिता और बच्चे की सहन-शक्ति को ध्यान मे रखते हुए), विटामिन बी-संकुल, विटामिन 'सी' और मा के रक्त की सुई का उपयोग होता है। स्टेरोइड हार्मोन उग्र स्थितियों मे ही दिये जाते है। सृपन होने पर प्रतिजीवक थेरापी के साथ-साथ डेक्स्ट्रानों, नैसर्गिक प्लाज्मा, ताजा साइट्रेटकृत रक्त, कोट्रीकाल और पाबा तदनुरूप खुराको में नित्य दो बार (हर 12 घंटे पर) दिया जाता है।

निरोध के उपाय वैसे ही हैं, जैसे जन्मजात बहुमारिक बुदबुदिया के लिये।

भविष्यवाणी गभीर (खतरनाक) है और अधिकाशत· शरीर की प्रतिरोधिता तथा प्रक्रिया के प्रसार व तीव्रता पर आधारित की जाती है। प्रतिजीवको और स्टेरोइड हार्मोनों के उपयोग से इस रोग के कारण मृत्यु की दर बहुत घट जाती है।

नवजात में बुल्लेदार इंपेतिगो

यह रोग नवजात मे बहुमारिक बुदबुदिया का हल्का रूप माना जाता है, जिसमें यह अपर्याप्त चिकित्सा के कारण परिणत हो सकता है। बच्चे का स्वास्थ्य खराब होने पर भी परिणत हो सकता है। यह स्ताफिलोचमता का एक सुदम रूप है और मटर या चेरी के आकार के अलग-थलग स्थानाबद्ध एकल कोटरीय बुल्लो द्वारा लछित होता है। बुल्ले का शिखर पतला तथा तनावपूर्ण होता है और आद्र (गीले) अपरदन को नगा करते हुए शीघ्र ही फट जाता है। उनका अंतर्द्रव्य सीरमी या सीरम-पूयिक होता है। स्राव सूखकर पतली सतही खड्डी में परिणत हो जाता है। बुल्ले धड़ एव हाथ-पैरो पर उत्पन्न होते है और उनमे परिसर मे प्रकीर्णित होने

(बिखरने) की प्रवृत्ति होती है। बच्चे की सामान्य अवस्था मे विरले ही कोई गड़बड़ी होती है।

निदान मे कोई कठिनाइ नहीं होती।

चिकित्सा—वुल्लों को खोलकर अपरदन पर अनीलीन रंजकों का लेप लगाया जाता है। बच्चे को इस काल मे अन्य सार्वत्रिक रोगों से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे रोग-प्रक्रिया के प्रवाह को उग्र कर सकते है।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

जुंतक चर्मरोग (जंतुक परजीवियों से उत्पन्न चर्मरोग)

जतुक परजीवियों से उत्पन्न होने वाले चर्मरोगो को जन्तुक (या जन्तुक) चर्मरोग कहते हैं। जंतुक परजीवियों मे निम्न के नाम आते हैं—जूं (यूका), पिस्सू (पिशु), खटमल, मच्छड और कुटकी की कुछ जातियां (खाजकारी कुटकी, घासों व चूहों की कुटकियां, दानेदार खुजलियों के निमित्त कारण आदि)। चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन मे महत्त्वपूर्ण रोग है—खाज और यूकार्ति (पित्लकुलोश)। इनका आक्रमण रोगी व्यक्ति के साथ सीधे संपर्क से या उसकी वस्तुओं (अप्रत्यक्ष मार्ग) से होता है—विशेषकर उसके वस्त्रों और बिस्तर से।

ये रोग विशेषकर युद्ध, अकाल, बर्बादी, वृहत पैमाने पर लोगों के विस्थापन के समय फैलता है। अधिक जमघट, अनियमित स्नान, गंदे कपड़े आदि इस रोग को फैलाने मे सहायक होते है। फिर भी 1970-74 मे विश्व के अनेक देशो मे खाज का जो 'विस्फोट' (आकस्मिक प्रसार) हुआ था, उस समय इसके परपरागत सहायक घटक अनुपस्थित थे। इसीलिये यह विचार प्रस्तुत किया गया कि खाज की 'महामारी' पर परिवेशिकीय एव मौसमलोचनी घटकों का प्रभाव पडता है (विस्तृत अर्थ मे), जो शायद इसके निमित्त कारणो की जीवलोचनी सक्रियता पर असर डालते है। इससे रोग का उन्मूलन करने, उसकी गादिकता कम करने की एटी-बहुमारिक युक्तियों और आरोग्यशालीय विधियो के पूरे संकुल को अपनाने का महत्त्व बहुत बढ जाता है, सोवियत स्वास्थ्य सेवा मे इनकी कारगरता पूरी तरह सिद्ध हो चुकी है।

भारत मे लोगों का जीवन-स्तर ऊचा होने के कारण, सही स्वास्थ्य शिक्षा और आयुरी सेवा के निरोधात्मक और आरोग्यशालीय सिद्धांतो पर आधारित कुशल आयुरी सहायता ने इस देश में ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया है, जिनसे

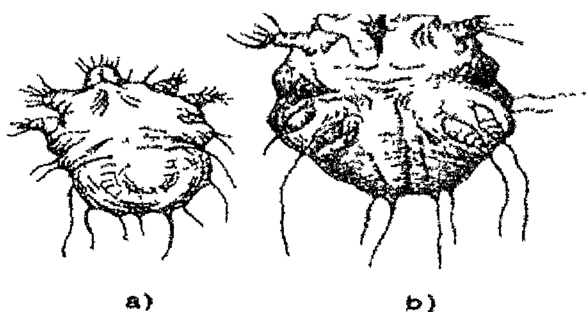
यूकार्त्ति का उन्मूलन हो सका और खाज की प्रायिकता मे बहुत कमी की जा सकी है।

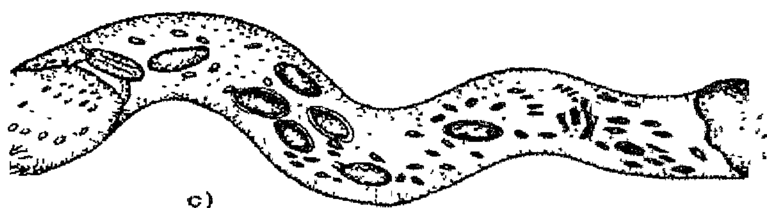
खाज

हेतुलोचन और गदजनन--खाज आकारूस स्काबिएइ या साकोप्टेस स्काबिएइ वार होमीनिस नामक कंडुकारी कुटकियो से होती है। मादा कुटकी नर से बडी होती है (क्रमश. 0.14-0.19 मिलीमीटर लबी और 0 4-0 45 मिलीमीटर चौडी) और देखने में कछुए की तरह लगती है (चित्र)। नगी आखों से देखने पर वह पिन के सफेद सिर जैसी दिखती है। निषेचन के बाद (जो चर्म की सतह, अर्थात् त्वचा पर होता है) नर की मृत्यु हो जाती है और मादा कुटकी अधिचर्म की सतही परतो को बेधकर उनमे बिल बना लेती है; वह अपने खीतिन (chitin) के मजबूत जबडो से चर्म की शृंगी परत मे छेद कर लेती है। चर्म से बाहर वह कुछ ही दिनो में मर जाती है। छः से आठ सप्ताह मे मादा कुटकी बिल मे 50 तक अडे देती है। इनसे वयस्क कुटकिया तीन से सात सप्ताह में बनती हैं। आकलन किया गया है कि तीन महीनो मे एक मादा कुटकी के अंडो से करीब 15 करोड़ कुटकिया विकसित हो सकती हैं।

रोग शरद और शीत ऋतु में कुछ ज्यादा प्रायिक हो जाता है, यद्यपि इसके केस सालो भर मिलते रहते है। अतर्शयन-काल 7-10 दिन से एक महीना या इससे अधिक भी हो सकता है। शरीर पर इनका आगमन रोगी व्यक्ति के माध्यम से होता है, विशेषकर यदि बिस्तर, वस्त्र आदि साथ होते है। बच्चो मे यह रोग रोगी बच्चे से फैल सकता है।

तल्पिक चित्र—जिस स्थल पर मादा कुटकी प्रवेश करती है, वहां एक छोटी-सी वस्तिका बन जाती है। खाज का मुख्य लक्षण खुजली ही है। खुजली शाम को और रात मे विशेष तीव्र हो जाती है, जब रोगी सोने जाता है। लछक खुजली के अतिरिक्त, जो रोग का प्रथम लक्षण है, जोड़ियों में या बिखरे हुए पिन के सिर जैसे बडे पिटिकीय वस्तिकीय दाने निकल आते है, बिल (भूरे डैशों जैसी रेखाएं) और चर्म को खुरचने पर शल्क बनते है। कुटकी के प्रिय स्थल है अतरांगुलिक चर्म की झुर्रियां, उगलियों के पार्श्व, कलाई की आकुचक सतहे, प्रबाहु और कोहनी की ऋजुकारी सतहें, धड की अग्र और पार्श्व सतहें, काक्षिक पुटको की अग्र सतहे, स्तनो के गिर्द, पेट पर विशेषकर नाभिकीय छल्ले के गिर्द, नितब, जांघ, पिडलिया और लिग का क्षेत्र। कोहनी की अस्थि-संधि की ऋजुकारी सतह पर कभी-कभी पिटकीय-वस्तिकीय क्षतियो पर शुष्क खट्टियो और शल्कों का आवरण देखा जा सकता है (गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण)। बिल अधिकांशत. अतरागुलिक झुर्रियो





कुटकी
A. नर। B मादा, C बिल

ओर कलाई पर देखे जा सकते है। उनकी लंबाइयां 2-3 मिलीमीटर से लेकर 0 5 सेंटीमीटर तक हो सकती हैं। विशालक शीशा से बिल को देखने पर पास-पास स्थित काले बिंदु दिखते है, जो कुटकी द्वारा बनाये गये छेद (द्वार) है, जिनसे निकलकर संतान कुटकियां चर्म की सतह पर आती है, ये बिल मे हवा के आने के रास्तों का भी काम करते है। कभी-कभी वस्तिकाओ के स्थान पर पिन के सिर जितनी बडी रक्त की खड्डिया भी बन जाती हैं।

उपर्युक्त स्थान ही कुटकी को प्रिय होते है, क्योंकि वह पतली शृंगी परत पसंद करती है। छोटे बच्चों में खाज का स्थान कुछ भिन्न होता है—क्षतियां गोडों, हथेलियों, नितबों, तलवो, चेहरे और शिरोवल्क की मध्य (मेडियल) सीमाएं।

खाज के साथ होने वाली तीव्र खुजली के कारण रोगी खरोचें और निशल्कन करके अक्सर पूयकारी पैठन को आमत्रित कर लेता है। इसके फलस्वरूप खाज निम्न रोगो से क्लिष्ट हो सकता है—मशिकाशोथ, फुंसी, लसग्रंथिशोथ, लसकुंभिशोथ, इपेतिगो, एक्थीमा। इन परिस्थितियो मे खाज का तल्पिक चित्र बदल जाता है और निदान कठिन हो जाता है (फिर भी खुजली की प्रकृति और प्रक्रिया के स्थलो के आधार पर सही निदान किया जा सकता है)। कभी-कभी प्रकीर्णित एव क्लिष्ट खाज की स्थिति मे रक्त में एओजीनोफीलिया और आल्बूमिनूरिया भी पाये जाते हैं। रोग जीवाणुक दिनाइ से भी क्लिष्ट हो सकता है, जिसमे क्षतिया स्त्रियो के

चुचुक के गिर्द और पुरुषों की जांघ की मध्य (मेडियल) सतह पर अधिक होती है व क्षतियां स्पष्टता से परिसीमित होती है, कभी-कभी उनमे रिसाव होता है, व अनेक पीपिकाओं और खड्डियों से आच्छादित होती हैं।

खाज के उपतल्पिक रूप (अवछिन्न खाज) पिछले समय मे अधिक प्रायिक हो गये है, इनमे लछक क्षति नही होती (विशेषकर कुटकी के बिल), लेकिन खुजली बहुत तीव्र होती है। रोग का यह रूप उन्ही व्यक्तियों मे होता है जिन्हे सफाई से रहने की आदत नही होती, या उन रोगियों में, जिनका ठीक ढग से इलाज नही होता। वैसे, ध्यान से निरीक्षण करने पर इन केसो मे भी जोड़ियो मे पिटिकीय वस्तिकाएं, बहुत नन्ही वस्तिकाए और पित्तिक क्षतियां अनुवेदित हो सकती हे।

ऊतगदलोचन—कुटकी का बिल मुख्यतः शृंगी परत में स्थित होता है और सिर्फ इसका बंद सिरा ही मालपीगी परत मे या उसके पार पहुंचा होता है। बिल का यही वह भाग है, जिसमे मादा कुटकी निवास करती है। मालपीगी परत मे अतर्कोशिकीय एव अंतरकोशिकीय शोफ विकसित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप छोटी वस्तिका बन जाती है। मुख्यत' लसकोशिकाओ से बना हुआ एक चिरकालिक शोथी अंतर्स्यंद सुचर्म मे देखा जाता है। यह बिल के नीचे स्थित रहता है।

निदान—खाज को कभी-कभी गलती से कडु मान लिया जाता है, क्योकि इसमे भी रोगी खुजली से परेशान रहता है। लेकिन इसमें खुजली दिन-रात रहती हे, रोग वर्षो तक टिका रह सकता है, इसके लक्षण है—त्वचा का भूरा रंग, श्वेत चर्मलेखन (डेर्माटोग्राफिया), पिटिकाओ की उपस्थिति (अक्सर रक्त की खड्डियो से आच्छादित), और लसपर्वो का वर्धन (कडुक गिल्टियां), पिटिकाए अधिकाशत हाथ-पैर की ऋजुकारी (उन्हे सीधी करने वाली) सतहो पर होती हैं।

खाज के निदान में निम्न लक्षण सहायक होते है—खाज के प्रिय स्थलो के चर्म पर पिटिकीय वस्तिकाओ की जोडियो मे उत्पत्ति, रात में खुजली की तीव्रता मे वृद्धि, कुटकी का बिल, परिवार मे कई लोगों में खुजली और गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण। कुछ केसों में 'त्रिभुज के लक्षण' से निदान में सहायता मिलती है—त्रिकास्थिक क्षेत्र मे क्षतियां एक त्रिभुज बनाती है, जिसका शीर्ष नितंबीय पुटक की ओर होता है। आमतौर पर पायी जाने वाली क्षतियो के अतिरिक्त इस क्षेत्र मे इपेतिग क्षतिया और वर्णकता पायी जाती है, जो बाद मे कुपोषज चित्तियो मे परिणत हो जाती हैं।

जब खाज का तल्पिक निदान कठिन सिद्ध होता है, तब कडुक कुटकियो के अनुवेदन के लिये प्रयोगशालीय परीक्षण किये जाते है। इसे बिल मे से पिन की सहायता से निकाला जा सकता है। उस्तरे से वस्तिकाओ का या अतर्द्रव्य समेत बिल का महीन अनुच्छेद काटने की विधि अधिक कारगर है। इन अनुच्छेदों को

स्लाइड पर क्षारीय हाइड्रॉक्साइड के 20 प्रतिशत घोल से समाधित किया जाता है, ढक्कन-काच से ढक दिया जाता है, फिर शुष्क, पगाली वाले सूक्ष्मदर्शी (अल्प अभिवर्धन) मे परीक्षण किया जाता है। प्रसाधन मे कुटकियां या उनकी जीवन-क्रिया के उत्पाद (अंडे, विसर्जी) काले बिन्दुओं के गुच्छों के रूप में दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—ऐसी दवाएं प्रयुक्त होती हैं, जो शृंगी परत को ढीली करके बिल मे प्रविष्ट होती है और कुटकियों को नष्ट कर देती है। कुटकी-परजीवी प्रसाधन अनेक है। चिकित्सा की कारगरता इन प्रसाधनों की प्रकृति पर नहीं, बल्कि इनके सही उपयोग और चिकित्सा की पूर्णता पर निर्भर करती है।

चर्म पर एंटी-खाज दवा मलने से पहले रोगी को गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। इससे त्वचा (चर्म की सतह) पर स्थित कुटकियां यंत्रवत दूर हो जाती है और शृंगी परत ढीली हो जाती है। लेकिन यदि रोगी चर्मपूयता या दद्रुक प्रक्रिया से पीड़ित है, तो उसे स्नान का निर्देश नही देते। एंटी खाज दवा धड़ और हाथ, हाथ-पैर के चर्म पर मली जाती है, उन जगहों पर विशेष अच्छी तरह से, जो खाज के लिये प्रिय है। शिरोवल्क का उपचार नही किया जाता। दद्रुकरण और इपोतंगाक्रमण होने पर दवा मली नहीं जाती, सिर्फ ग्रस्त क्षेत्रों पर लेपी जाती है। साथ-साथ क्लिप्टताओ की भी चिकित्सा की जाती है।

चर्म मे बेंजिल बेंजोनेट का घोल (बेंजोइक अम्ल बेंजिल ईथर) मलना काफी कारगर होता है। बेंजिल बेंजोनेट का साबुन पानी के साथ 20 प्रतिशत इमल्शन वयस्क रोगियों के लिये प्रयुक्त होता है और 10 प्रतिशत बच्चो के लिये। 20 प्रतिशत घोल निम्न रीति से बनाया जाता है—20 ग्राम हरा या कोई अन्य साबुन छोटे-छोटे टुकडो मे काटकर 780 मिलीलीटर गर्म (हल्के) पानी मे घोल लिया जाता है और उसमें 200 मिलीलीटर बेंजिल बेंजोनेट मिला लिया जाता है। औषधालय मे 10 प्रतिशत इमल्शन बनाने का नुस्खा निम्न है—

Rp Benzılbenzıatı 20 0
Saponis Vırıdıs 3.0
Aq fontanae ad 200 0
MDS बाह्य अनुयोग के लिये

इमल्शन बनाने के बाद सात दिनों तक उसकी सक्रियता बनी रहती है। इसे 10 मिनट के अतराल पर दो बार त्वचा पर मला जाता है। दूसरे दिन उपचार दोहराया जाता है। तीन दिन बाद स्नान कराया जाता है, वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, बच्चो का उपचार साबुन-पानी के साथ बेंजिल बेंजोनेट के 10 प्रतिशत इमल्शन से होता है या इमल्शन के आधार पर 10

प्रतिशत बेंजिल बेंजोनेट से युक्त मलहम तीन दिनों तक मला जाता है।

सुदूर उत्तर मे बेंजिल बेंजोनेट पेट्रोलेटम के आधार पर 10 या 20 प्रतिशत साद्रता के साथ बनाने की सलाह दी जाती है।

खाज की चिकित्सा के लिए देमियानोविच की विधि में सोडियम थायोसल्फेट का 60 प्रतिशत सांद्र घोल (घोल न. 1) और साद्रित हाइड्रोक्लारिक अम्ल का 6 प्रतिशत (या तनुकृत का 18 प्रतिशत) घोल (घोल न. 2) प्रयुक्त होते है। घोल न. 1 को 10 मिनट के अतराल पर दो बार चर्म के सारे क्षेत्र पर मल दिया जाता है, फिर दस मिनट बाद घोल न. 2 मला जाता है (5 मिनट के अतराल पर पाच-पाच मिनट के लिये दो बार) सोडियम थायोसल्फेट का घोल एक तश्तरी मे ढाल लिया जाता है और उसमे हाथ गीला करके उससे मला जाता है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का घोल बोतल से सीधे हाथ पर ढाला जाता है। मल लेने के बाद रोगी साफ कपडे पहनता है, बिस्तर आदि बदल लेता है। अगले दिन उपचार पुन' दोहराया जाता है, चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद रोगी को स्नान की इजाजत दी जाती है। बच्चों के लिये सोडियम थायोसल्फेट का 40 प्रतिशत घोल और साद्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 4 प्रतिशत साद्र घोल (या तनुकृत का 12 प्रतिशत साद्र घोल) प्रलिखित किये जाते है।

सल्फर का मलहम (वयस्को के लिए 20-33 प्रतिशत साद्र और बच्चो के लिए 10 प्रतिशत सांद्र) या विल्किंसन का मलहम (15 प्रतिशत सल्फर, 10 प्रतिशत खडिया, 30 प्रतिशत हरा साबुन, 30 प्रतिशत पेट्रोलेटम) मला जा सकता है। बच्चो की चिकित्सा के लिये विल्किसन के मलहम मे आधा-आधा जिक पेस्ट मिला देते है। ये मलहम चर्म पर लगातार पांच दिनों तक नित्य एक बार मले जाते है। छठे दिन स्नान कराया जाता है और तभी वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते है। सल्फर एव विल्किसन के मलहमो का उपयोग सीमित है क्योंकि वे कपडो को गदा करते है और औपधजनित चर्मशोथ संप्रेरित कर सकते है। यदि चर्मशोथ विकसित हो जाता है, तो महलम लगाना बंद कर देते है और जिक का लोशन या पेस्ट प्रलिखित करते है। विल्किसन का मलहम वृक्कीय ऊतको मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता (वृक्कार्त्ति) है, इसीलिये वृक्करोग से ग्रस्त लोगो को यह प्रलिखित नही किया जाता।

खाज की चिकित्सा पोटाशियम-साबुन के ताजा तैयार किये हुए 5 प्रतिशत इमल्शन से भी की जा सकती है। यह 5 दिनो तक देह मे नित्य मला जाता है, चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद स्नान किया जाता है।

यदि चिकित्सा से लाभ नही होता, तो उसे तीन से पाच दिन बाद दोहराया जाता है।

रिसालु पारश्लेपण के प्रति प्रवणता रखने वाले बच्चों में खाज का उपचार करते वक्त और चर्मशोथ से बचने के लिये तथा कटाणी खुजली को रोकने के लिये भी (जो परिस्थितज गदलोचनी प्रतिवर्त के कारण उत्पन्न होती है) अवसंवेदक तथा प्रतिहिस्टामिनिक प्रसाधन (कैल्सियम ग्लूकोनाट, डिआज़ोलिन, सुप्रास्टिन आदि) प्रलिखित किये जाते है। यह चिकित्सा उन लोगों को भी दी जाती है, जिनमें खाज परोजिक चर्मशोथ से क्लिष्ट हो जाता है।

सहवर्ती चर्मपूयता की चिकित्सा प्रतिजीवको, सुल्फानामीदों और बाह्य प्रयोग की दवाओ सल्फर-टार ओर बोरिक अम्ल-टार से युक्त मलहमों, अनीलीन रंजकों और 2 प्रतिशत सैलीसीलिक अल्कोहल से की जाती है।

नियंत्रणकारी और निरोधात्मक युक्तियों का संगठन--सभी अनुवेदित रोगियो के लिये विशेष सूचना-पत्र भरे जाते हैं। पैठन-क्षेत्र में सभी रोगियों की एक साथ चिकित्सा खाज पर नियंत्रण की आवश्यक शर्त है। रोगी के परिवार के सभी सदस्यों या बाल-प्रतिष्ठान के सभी बच्चो व कर्मचारियों का निरीक्षण होना चाहिए। (यदि कोई रोगी इस प्रतिष्ठान मे जाता है)। सभी रोगियो का ठीक समय पर अनुवेदन करके उन्हें बाकी लोगों से अलग करना चाहिए और उनकी चिकित्सा करनी चाहिए; तभी रोग-प्रसार का निरोध संभव है।

खाज के रोगियो की चिकित्सा विशेष प्रतिष्ठानों मे की जाती है; यदि बहुमारीलोचनी स्थिति प्रतिकूल होती है, तो कीटनाशक कदम सगठित किये जाते है।

आतरिक वस्त्रो, बिस्तरो को पूर्णतः कीट-रहित करना (DDT छिड़कना, K-साबुन से संसाधित करना) या शुष्कतापी या आर्द्र तापीय कक्ष मे कीट-रहित करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उन्हें साफ करके उबालने के बाद उन पर गर्म इस्तरी भी की जा सकती है। अन्य वस्त्रों को किसी कक्ष मे निष्कीटित किया जा सकता है या उन पर DDT छिडका जा सकता है।

खाज का एक बहुत विरल और विचित्र रूप है--**नौर्वेजियन खाज** (कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि यह सामान्य तौर पर ही पायी जाने वाली खाज का बहुत उपेक्षित रूप है)। इसका पहली बार वर्णन 1884 में **नौर्वे** के डानियेल्सेन (Danielssen) ने किया था। यह अत्यत दुर्बल लोगो मे (अक्सर कुष्ट, मेरूसुषिरता आदि जैसे रोग से ग्रस्त व्यक्तियों में) और मंदित बौद्धिक विकास वाले लोगो मे होता है।

नौर्वेजियन खाज में आक्रांति-स्थल पर चर्म शुष्क एव मोटी गाढ़ी हरी खड्डियो से आच्छादित होता है, जो प्रसारित होकर आपस मे मिल जाती है और कवच की तरह दिखने लगती है। यह कवच गति को सीमित करता है, क्योकि

चलने-फिरने वक्त इसमें पीड़ा होती है। नख बहुत मोटे हो जाते है। ग्रस्त क्षेत्र मे बाल शुष्क और कांतिहीन लगते है। सभी लसपर्व वर्धित हो जाते है। रोगी के शरीर से अप्रिय गंध आती है। उल्लेखनीय है कि खाज के लक्षण स्पष्ट होने पर भी खुजली बहुत हल्की होती है या बिल्कुल नही होती। खड्डियो को बलपूर्वक हटाने पर अति रक्तिलन चर्म प्रकट होता है, जिस पर नगी आखो से भी सफेद-सफेद बिंदुओं के ढेर दिखायी देते हैं। ये बिंदु कड्डुकारी कुटकियां है, जो खड्डियों ओर शल्कों में छिपी रहती है।

खड्डियो को 5-10 प्रतिशत सल्फर-टार के मलहम से दूर किया जाता है, जिसके बाद सामान्य एंटी-खाज प्रसाधन प्रयुक्त होते है, सामान्य स्फूर्तिदायक उपाय किये जाते है।

कभी-कभी बड़ी सख्या में लोगों मे पेडीकुलोइडेस वेंट्रीकोजुस का आगमन (आक्रमण) होता है इनसे **दानेदार खुजली** होती है। ये कुटकिया अनाजों पर रहती हैं। इसीलिये इनसे अक्सर अनाजघरो में ढुलाई करने वाले या इन कुटकियो से संदूषित पुआल पर सोने वाले ग्रस्त हो जाते है। चिकित्सा वैसी ही है, जैसी आम खाज की।

घोड़ों, चूहों, मुर्गों, कबूतरों आदि की कुटकियां आदमी को काट सकती है, जिससे तीव्र खुजली होती है, पिटिकाएं, ददौंर आदि बन जाते हैं, लेकिन वे अधिचर्म को बेधती नही है, बिल नहीं बनाती। ये कुटकिया घर मे वस्त्रो आदि पर भी चली जाती हैं। चिकित्सा में अल्कोहल का घोल, लोशन आदि प्रयुक्त होते है। कपड़ो और घर का निष्टीकन, चूहो का उन्मूलन, बीमार घोड़ो की चिकित्सा—ये सब उपाय आवश्यक होते है।

खटमलों (सीमेक्स लेक्टूलोरिस) और पिस्सुओ (पूलेक्स इरीटास) के काटने से खुजलीकारी पित्तिक क्षतिया होती है। पिस्सू (पिशु) के दंश-स्थल पर एक लछक केंद्रीय रक्तस्राव उत्पन्न होता है, जो अति रक्तिल धब्बे या ददौरे से घिरा होता है (आकार बाजरे के दाने के बराबर होता है)। चर्म पर जो अभिव्यक्ति होती है, उसकी चिकित्सा आवश्यक नहीं होती। खटमलों और पिस्सुओ के उन्मूलन के उपाय किये जाते है—खटमलो के निष्पैठक साधनों और घोलो से, पिस्सुओ के सल्फरकरण से, घर की सफाई से।

जब घोड़े की कुकुरमाछी (बोट-फ्लाइ) के लार्वा आदमी के चर्म पर आ जाते है, तो 'लार्वा मिग्रास' नामक एक रोग विकसित होता है, फिर पाश की तरह ऐंठी हुई धागे-सी पतली और उभरी हुई सतह बनती है, जिसकी चौडाई 1-2 मिलीमीटर तक हो सकती है। यह त्वचा के नीचे लार्वा 24 घटे मे 15 सेंटीमीटर या इससे अधिक दूरी तय कर लेता है

चिकित्सा के लिये ग्रस्त क्षेत्र पर टिंचर आयोडीन, एथिल क्लोराइड का सधनन आदि प्रयुक्त होता है या लार्वा द्वारा आक्रान्त क्षेत्र को कर्तीजक विधि से दूर कर दिया जाता है।

गीनिया-कृमि ड्राकुनकूलुस (फिलारिया) मेडीनेंसिस विशेषकर गोड और टाग की अवचार्म वसा मे विकसित होता है, जहा एक गुल्म बन जाता है। गुल्म के ऊपर स्थित चर्म में विगलनक्लेश हो जाता है, चर्म फट जाता है और वहा व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिसकी तली पर ये परजीवी पाये जाते हैं। इन्हें मारने के लिये गुल्म मे पारद डाइक्लोराइड की सुई दी जाती है, फिर 24 घंटे बाद कृमि को कोटर मे से पतली शलाका पर लपेटते हुए निकाल लिया जाता है। यदि गुल्म फटा नही है, तो कृमि को कर्तीजक विधि से भी निकाला जा सकता है।

कुष्ठ

कुष्ठ एक चिरकालिक पेठी रोग है, जो हासेन (Hansen) के दासिलों या मीकोवाक्तेरिउम लेप्रे से होता है; इसकी खोज 1871 मे हुई थी।

कुष्ठ का हेतुलोचन ज्ञात है, पर इसके बहुमारीलोचन, इसके पठन और प्रसार की परिस्थितियों आदि का अध्ययन सर्वथा अपूर्ण है। रोग की निम्न विशेषताए है—दीर्घकालीन अतर्शयन-अवधि, अनेक वर्षो तक का लबा प्रवाह, चर्म, श्लेष्मल झिल्ली और नर्वतत्र की विशिष्ट क्षति।

सोवियत सघ मे इस रोग के विशेष आक्रांति-क्षेत्र है—काराकाल्पाक, उज्बेकिस्तान, कजाख्स्तान, निम्न-वोल्गा का क्षेत्र, सुदूर पूर्व और बाल्टिक गणतत्र। यदा-कदा अन्य क्षेत्रो में भी इसके केस दर्ज होते है। कुल मिलाकर सोवियत सघ मे इससे ग्रस्त की सख्या बहुत कम है। इनमे से अधिकाश लोगों की चिकित्सा कुष्ठाश्रमों मे होती है। सोवियत संघ मे इस रोग की प्रायिकता बहुत तेजी से घटी है और इसका कारण है लोगो के आर्थिक, सास्कृतिक, स्वास्थ्य और सफाई के स्तर में उन्नति। इस बात की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है कि ठीक समय पर रोगी का अनुवेदन हो जाता है, उसे तुरंत पृथक् कर दिया जाता है, उसके संपर्क मे आये सभी व्यक्तियो की जाच हो जाती है। प्रारभिक आकड़ो के अनुसार विश्व में करीब एक करोड़ से अधिक लोग इस रोग से ग्रस्त हैं। सोवियत संघ मे कुष्ठाश्रम सगठित किये गये है, जहां कुष्ठ-रोगियो को रखा जाता है, उनकी पूर्ण चिकित्सा की जाती है, ताकि वे सामान्य जीवन में लौट सकें।

हेतुलोचन और गदजनन—कुष्ठ के निमित्त कारण 'मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे' एसिड और अल्कोहलफास्ट होते है। ये ट्सील-नीलसेन (Ziehl-Neelsen) का



कुष्ठार्बिक कुष्ठ

ाहण कर लेते हैं और 'मीकोबाक्तेरिउम लुबेरकुलोसिस' से मिलते-जुलते ो आकृति छड की तरह होती है, जिसके सिर कुछ नुकीले होते हैं। त्सर गुच्छो (ग्रुपो) में होते हैं, जो देखने मे सिगार के पैकटो की तरह ग-अलग छडो के रूप मे ये कम ही होते है। इनका कैप्सूल नहीं होता भी नहीं बनाते।

ष्ठ के प्रति अधिक प्रवण होते हैं, जबकि वयस्क बहुत कम ही इससे सीलिये इस रोग से पीड़ित बच्चो व वयस्को का रक्त 'मीकोबाक्तेरिउम (कल्टीवेट करने) में प्रयुक्त होते हैं। रेशाकुरो, माक्रोफागो और र्श-कोशिकाओं पर इन जीवाणुओं को पनपाने के कुछ प्रयत्न सफल

मे हाने वाले गंठिवत कुष्ठ की क्षतियो से मिलती-जुलती क्षतिया पे पहली बार सोवियत संघ में उत्पन्न किये गये थे (केंद्रीय चार्म और पस्थान मे)। इससे कुष्ठ के तात्पिक चित्र, गदजनन, निरोध और प्रायोगिक अध्ययन हो सकेगा।

आदमी के शरीर में मि. लेप्री के पैठन के मार्ग का अभी तक सही तरह अध्ययन नहीं किया जा सका है। लंबे समय तक रोगी के जीवन में रोगी के साथ निकट का संपर्क (जैसे परिवार में) निश्चय ही पैठन को सर्वाधिक करता है। रोगी का अन्य व्यक्तियों (विशेषकर परिवार के सदस्यों) के साथ जितना ही ज्यादा समय तक संपर्क रहेगा और परिवार में सांस्कृतिक स्वास्थ्य संबंधी व रहन-सहन का स्तर जितना ही निम्न होगा, पैठन की संभावना उतनी ही अधिक होगी। संभवतः यह नन्ही बूंदों के माध्यम से (जो खांसने, छींकने के समय मुख से निकलती हैं) श्वसन मार्ग के सहारे होता है (प्रारंभ में मि. लेप्री नाक की विभाजक दीवार के अग्रस्थित भाग की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित होता है)। यह विचार भी प्रस्तुत किया गया था कि पैठन चर्म से होकर होता है (प्रथमतः पैरों के चर्म से होकर)। इसका प्रमाण यह है कि रोग के प्रारंभिक चरण में कुष्ठ के बासिल क्लस्टर (जाओं में) अधिक लसपर्वों में पाये जाते हैं। कुछ केसों में सहवर्ती रोगों, जैसे पैर (गोड़) की रुग्णता (विशेषकर कांदिदक्लेश) को महत्त्व दिया जाता है। अतः चर्म (जैसे छोटे घाव, रक्त-चोषक कीड़ों के दंश-स्थल, गोदना-स्थल, घाव) में भी पैठन की संभावना मिलती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कुष्ठ-प्रक्रिया के विकास के रूप आदमी के शरीर के व्यक्तिगत गुणों, इसकी प्रतिरोधिता और सामान्य अवस्था पर निर्भर करते हैं।

विभिन्न वैज्ञानिकों के अनुसार इसका अंतर्शयन-काल औसतन चार से छः वर्ष तक निर्धारित किया गया है। लेकिन यह भी विश्वसनीयता के साथ निर्धारित किया गया है कि इसमें दो से तीन महीने भी लग सकते हैं और 10-20 से 50 वर्ष तक भी। इसलिये कुष्ठ प्ररक्षित अंतर्शयन-काल द्वारा लक्षित होता है, जिसकी लंबाई बहुत भिन्न हो सकती है।

कुष्ठ बहुत अल्प छुतहा माना जाता है, यह यक्ष्मा से भी कम छुतहा है। वयस्कों की अपेक्षा बच्चों में इसके प्रति कम प्रतिरोधिता होती है और दीर्घकालीन संपर्क की परिस्थितियों में वे इस रोग से अधिकतर और अधिक शीघ्रता से ग्रस्त हो जाते हैं।

रोगपूर्व की अवधि में रोगी अस्वस्थता की शिकायत करता है, उसे तीव्र नर्वशूलीय पीड़ा, अस्थि संधियों में दर्द, प्रगामी (उत्तरोत्तर बढ़ने वाली) दुर्बलता और जठरतंत्र की गड़बड़ियां होती हैं। कभी-कभी परिसंवेदना, अति-संवेदना और ज्वर भी पायी जाती है। इसी काल में हासेन के बासिल भी नासा-भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित हो जाते हैं। इसके बाद रोग के तात्पिक लक्षण विकसित होते हैं। रूपलोचनी अभिव्यक्तियों के अनुसार तीन प्रकार का कुष्ठ रोग होता है।

कुष्ठ का वर्गीकरण

1. कुष्ठार्बिक या दुर्दम, तीव्र प्रकार
2. गलिवत या मृदम, हल्का प्रकार
3. अनिश्चित या अविशिष्ट प्रकार

कुष्ठार्बिक प्रकार का कुष्ठ

कुष्ठार्बिक प्रकार मे पहले अनिश्चित प्रकार के मुश्किल से दिखने वाले ललछौंह धब्बे उत्पन्न होते है, जिन पर नीली या लोहित आभा होती है। रोग के आरम्भ में इन क्षेत्रों पर कोई संवेदी गडबडिया (दर्द, जलन, स्पर्श आदि की) नही होती। धब्बे धीरे-धीरे अंतर्स्यंद बन जाते है। प्रक्रिया की चपेट मे सुचर्म के अतिरिक्त अवचार्म वसा भी आ जाती है और पर्विकाए (कुष्ठार्व) बन जाती है। ये अतर्स्यंद और पर्विकाए अक्सर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर, आखो से ऊपर ललाट पर, गालो और नाक पर उत्पन्न होती है। चेहरे का भाव गडवड हो जाता है, चेहरा विकृत और भयावह हो जाता है (सिंह-मुखौटा)।

भालों के अतर्स्यंदन से उनके पार्श्व लोम स्थायी तौर पर झड़ जाते है। चेहरे और हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो के अतिरिक्त अतर्स्यंदन धड के कुछ चर्म-क्षेत्रों और आतर अगों को भी ग्रस्त कर ले सकता है। धब्बों और अंतर्स्यंदो के अतिरिक्त दियासलाई के सिर या मटर के बराबर पर्विकाएं (कुष्ठार्व) भी उत्पन्न हो सकती हैं। इनका रंग ललछौंह भूरा या ललछौंह बैंगनी होता हे, जो बाद मे सहवर्ती रक्तस्रावी घटक के कारण जंक जैसी आभा भी ग्रहण कर सकता है। कर्ण-पालि और हाथ-पैर के दूरस्थ खडो पर कुष्ठार्ब ललछौंह नीले होते है। पर्विकाओं की सतह चमकदार और चिकनी होती है, मानो उस पर तेल लेपा गया हो। पर्विकाए व्रणित भी हो सकती है।

विरचनरत व्रणों की किनारियां कठोर होती है, कभी-कभी शोफित और बिल्कुल उभरी हुई होती है। इनसे रक्तिल स्राव होता है, जिसमे असख्य कुष्ठ-बासिल होते है। व्रण क्रमश कणीकृत ऊतको से भर जाते है और क्षतांकित हो जाते हे। पर्विकाए और अतर्स्यंदन भी व्रणित होते है और अपेक्षाकृत विरलत: बिना व्रणन के ही अपचोपित हो जाते हे (ऐसी स्थितियों मे छोटे सतही क्षतांक रह जाते हैं)। जो व्रण बनते हे, वे बडे होते हे और पेशियां और अस्थियो को भी प्रक्रिया की चपेट में ले लेते है। इन स्थितियो मे अस्थि-संधियो व छोटी अस्थियों का विनाश और बडी-बडी विकृतिया देखने में आ सकती है।

अधिकाशत नाक की श्लेष्मल झिल्ली ही रोग-प्रक्रिया से ग्रस्त होती है, विशेषकर वह जो विभाजक भित्ति की उपास्थिक भाग को आच्छादित रखती हे।

राग के आरम्भ काल मे कुष्ठ के नासिल इतो भन को म्यूकस मे मिलते है।

नाक की विभाजक भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली की आक्रांति नकसीर, नासिस्यंदता, नासा-स्राव और पटलित खड़ियों द्वारा लक्षित होती है जो चिरकालिक कुष्ठजनित नासाशोथ का चित्र प्रस्तुत करती हैं। नाक की विभाजक भित्ति के उपास्थिक भाग मे अतर्स्यंदन का आगे विकास होने पर व्रणन और विनाश संभव है। ऐसी स्थिति मे नाक म लछक विकृति उत्पन्न होती है, उसकी नोक थोड़ा ऊपर को उठ जाती है।

विसरित अतर्स्यंदन और कुष्ठार्बुद जीभ, मृदु व कठोर तालू पर भी अवस्थित हो सकते है, जो कठ (हलक) और स्वरयंत्र की श्लेष्मल झिल्लियों पर फैल जाते है। इसके फलस्वरूप स्वर मे कर्कशता और यहां तक कि स्थायी स्वरहानि (नि शब्दता) भी विकसित हो सकती है—परिकंठद्वार और स्वरयंत्र की श्लेष्मल झिल्लियो के क्षतांकन के कारण।

कुष्ठाबिक प्रकार के कुष्ठ-रोगियो की आंखो मे पुतलिकाशोथ, परितारिकाशोथ, श्वेतपटलशोथ भी पाये जा सकते हैं। कुष्ठाबिक शृंगिकाशोथ की चिकित्सा न करने पर शृंगिका के अंतर्स्यंदित, अपारदर्शक और क्षतांकित होने के कारण अंधापन भी विकसित हो सकता है।

लसपर्व (विशेषकर जांघ और जंघामूल के, विरलतः गरदन के, स्तनपर्व के अवकाक्षिक और काक्षिक) बड़े हो जाते हैं (बेर के आकार के), उनकी संरचना कठोर-प्रत्यास्थ हो जाती है, उनमे दर्द नहीं होता और वे सुचल (हिलने-डुलने वाले) हो जाते हैं।

नर्वतंत्र अक्सर चपेट मे आ जाता है। इसमे जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें औपचारिकतः दो ग्रुपो मे बांटा जा सकता है—पहला केंद्रीय नर्वतंत्र की सामान्य गडबडियो मे, जो विभिन्न तीव्रताओ की नर्वक्लेशिक प्रतिक्रियाओ मे व्यक्त होती है, कुछ स्थितियो में नर्वक्लेश और मनोक्लेश भी विकसित हो सकते है, दूसरे—परिसरीय नर्वतंत्र की आक्रांति, जिसमे नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ विकसित हो जाता है। अधिकांशतः कफोणिक (कोहनी के), कर्णिक (कान के) और छोटी टगास्थिक नर्व ग्रस्त होते है। नर्व मोटे हो जाते हैं और तदनुरूप स्थलों पर परिस्पर्शित हो सकते है। केंद्रीय और मुख्यतः परिसरीय नर्वतंत्र की आक्रांति से संवेदनतंत्रीय, कुपोषी और गतिप्रेरक (मोटर) गडबड़ियां उत्पन्न हो सकती है।

कुष्ठाबिक कुष्ठ मे संवेदन-तंत्र की गडबड़ियां काफी देर में उत्पन्न होती है, बनिस्बत कि गंठिवत प्रकार के कुष्ठ मे। संवेदी नर्व-सिराओ की आक्रांति द्वितीयक प्रकृति की होती है और प्राथमिक रूप से उत्पन्न कोशिकीय अतर्स्यंदन द्वारा संपीडन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है पहले स्थायी मर्मभेदी नर्वशूल विकसित

होता है फिर तदनुरूप चमक्षेत्रों पर अतिसवदना परिसवेदना विकृत सवेदना ओर क्षोभ के प्रति अपर्याप्त प्रतिक्रिया होती है (ठड की जगह गर्मी महसूस होती है ओर गर्मी की जगह ठंड, अपरिस्थितिज प्रतिवर्त विलबित हो जाता हे)। अतिसवेदना ओर प्रतिसवेदना का स्थान बाद मे अनसंवेदना और अनपीडा ले लेती है। हाथ-पैर के कुछ खडो में और धड मे तापीय अनसवेदना और अनपीडा के कारण कभी-कभी झुलसन हो जाती है जिसे रोगी महसूस नही कर पाता। कुष्ठार्विक प्रकार के कुष्ठ मे स्पर्श-सवेदना की गड़बडियां विरले ही होती हैं—ये रोग के अगले चरण में होती हैं।

कुपोपी गडबडियो के कारण कुष्ठ के रोगी में वर्णकता से सबधित गडबडिया उत्पन्न होती है और तीव्र क्लिष्टताए उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे हाथ-पैर का अपग होना। हाथ और पैर के अस्थि-पजर अलग होने लगते है, नख नष्ट हो जाते है और स्पष्ट कुपोषी गडबड़ियो के रूप में विकृत हो जाते है। हस्तपुच्छ (हाथ का कलाई से उंगलियो तक का भाग) और गोड़ मुलायम हो जाते है और सील मछली या मेढक के पैर की तरह दिखने लगते है। कुपोषी गड़बड़ियो के कारण वपाल एव स्वेदजनक ग्रथिया अपसामान्य रूप से काम करने लगती है। उनकी अतिक्रिया बाद मे अवक्रिया मे परिणत हो जाती है और स्वेद व वपा का स्राव बिल्कुल बद भी हो सकता है, त्वचा शुष्क होकर फटने लगती है। माइनर (Minor) का परीक्षण रोगी मे धनात्मक हो जाता है (टिंचर आयोडीन लेपे हुए चर्म-क्षेत्र पर स्टार्च लेप कर गर्म शुष्क वात-कक्ष में रखने से वह नीला नहीं होता, क्योकि स्वेद-ग्रथियां काम नहीं करती)।

परिसगीय नर्वतत्र की क्षति के कारण गति व्यवधानित हो जाती है। आकुचक तानता हावी रहती है, क्योकि हस्त-पुच्छ, गोड, फिर प्रबाहु और टाग की ऋजुकारी पेशियों में अनियमित कुपोषण होता रहता है। हाथ और पैर की उगलियां अशत ओर असमान रूप से आकुंचित (मुडी हुई) रहती है (चिडिया के पजे की तरह हाथ ओर घोडे की तरह पैर)। हथेली के पीछे अतरास्थिक अवकाश वक्रित हो जाता है, क्योकि छोटी पेशिया सुखौरोगग्रस्त हो जाती हे। हथेली पर अगूठे के नीचे की गद्दी (थेनार) और अवथेनार की पेशिया भी सुखौरोगग्रस्त (कुपोपित) हो जाती है, जिससे हथेली चपटी (चौरस) हो जाती है और बदर की हथेली जैसी लगने लगती है।

आख की पेशियो के कुपोपण के कारण आखे अधमुदी रहती है (खरहे की आख)। ये रोगी आखो को स्वत स्फूर्त रूप से बद नही कर पाते। चेहरे के नर्वो के ग्रस्त होने के कारण भावो को अभिव्यक्त करने वाली पेशियो का कुपोषण होता है, जिससे चेहरे पर एक उदासी का मुखौटा-सा चढ जाता है। ('सत अटोनी का मुखोटा')।



पशी-कुपोषण (मुखोरी) म उगलिया का अवकुन्चन

कुष्ठ-रोगी को ऊपर वर्णित सवेदक, गतिप्रेरक तथा कुप तीव्रताओ के साथ भिन्न सम्मेलो म हो सकती है। साथ-साथ गडबडिया होती है।

कुष्ठार्बिक पकार के कुष्ठ मे विभिन्न आतर अग भी क्लोम, यकृत ओर प्लीहा वर्धित हो जात ह ओर पहल शरीर ह गडबडियो का नल्पिक चित्र कुष्ठ के लिये विशिष्ट नही होता। चर्म ओर श्लष्मल झिल्ला की विशिष्ट क्षति क नल्पिक वि बाक्तेरियदर्शन द्वारा निर्धारित होता है, खुरचन निम्न स्थला स की विभाजक भित्ति, क्षलाकन से प्राप्त ऊतक-रस ओर बायाप लसपर्वो के भी परीक्षण मे रोग-निर्धारण हो सकता ह, जो व

कुष्ठ के सर्वतत्र ओर आतर अगो की आक्राति के ग्रथियो की क्रिया मे भी गडबडी नजर आती है। यह निम्न ल

है—समय से पहले बूढा होना (उम्र से बडा लगना), स्त्रियो मे समय से पूर्व रजोनिवृत्ति, पुरुषो की यौन सक्रियता मे ह्रास, यहां तक कि नपुसकता भी। कुछ रोगियो मे दोतरफे कुप्ठज वृपणशोथ तथा परिवृषणशोथ और इसके बाद उनके कठोरन के फलस्वरूप शुक्राणु निर्जीव हो जाते है। इन स्थितियों में स्त्री का वध्यापन पति के वीर्य में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति के कारण होता है।

कुष्ठ-पर्विका का ऊतगदलोचन—सुचर्म में योजक ऊतको की परतो के बीच से लेकर पिटिकामय परत तक केशिकीय अंतर्स्यदन का स्थानीय संचय पाया जाता है। ये अंतर्स्यदन उपकलावत कोशिकाओ, लसकोशिकाओं, रेशाकुरो, प्लाज्मा-कोशिकाओं, अल्प मात्रा मे ऊतकोशिकाओ और विर्खोव-दानिएल्सेन-निरूपति कुष्ठ कोशिकाओं से बने होते है। अतिम जो कुष्ठार्विक प्रकार के कुष्ठ के लिये विशेष लंछक होते है, ये बडी गोली जैसी कोशिकाए है, जिनका प्रोटोप्लाज्म हल्का फेन जैसा होता है, नाभिक एक या कई हो सकते हैं। इनमें कुष्ठ के अनेक वासिल और बासिलो के अपघटन-द्रव्य की गोलिया सिगार के रूप मे व्यवस्थित होती है। कुष्ठ के वासिल ट्सील-नीलूसेन की विधि से सरलतापूर्वक रजित हो जाते है और अतर्स्यदो में वहुत बडी मात्रा मे होते है—कोशिकाओ के भीतर भी और बाहर भी, साथ ही लसीय झिर्रियो और कुभिक फाको के बीच भी। योजक ऊतको के रेशे (कोलाजनी और प्रत्यास्थ) अंतर्स्यदन के क्षेत्र मे श्लथ (ढीले-ढाले) हो जाते है, जगह-जगह खुरचनों जैसी स्थिति दिखने लगती है, लेकिन अंतर्स्यदन और परिचर्म के बीच तथा अतर्स्यदन-केद्रो के बीच ये रेशे पूर्ववत बने रहते हैं। स्वेदक और वपाल ग्रथिया कुपोषित हो जाती है।

निदान मे यह महत्त्वपूर्ण है कि पहले चर्म और श्लेष्मल झिल्ली पर रोग की रूपलोचनी अभिव्यक्तियो का ही अध्ययन किया जाये, क्योंकि नर्वतत्र और विशेषकर आतर अगों की आक्रातिया किसी खास प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट (लछक) नही होती। इसके वाद आक्राति-केद्रो की गदोतलोचनी सरचना और लेप्रोमिन के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया (लेप्रोमिन परीक्षण) का अध्ययन करना चाहिए। लेप्रोमिन परीक्षण मे प्रबाहु की आकोचनी (मोडने वाली) सतह मे अतर्चार्मि सुई दी जाती है—पिसे हुए कुष्ठार्विक ऊतक से प्राप्त 0 1 मिलीमीटर लेप्रोमिन की, क्योकि इन ऊतकों मे हैसेन के प्रारभिक प्रतिक्रिया के रूप में सुई के बाद 24 से 48 घटे मे रक्तस्फीति और शोफ विकसित होता है। विलबित धनात्मक प्रतिक्रिया मे दो-चार सप्ताह वाद सुई के स्थल पर एक पर्विका बन जाती है, जिसका आकार 1 0-1 5 सेंटीमीटर होता है; पर्विका में व्रणन की प्रवृत्ति होती है। विलबित धनात्मक प्रतिक्रिया अनुकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। लेप्रोमिन के प्रति प्रारभिक और विशेषकर प्रतिक्रिया भविष्यवाणी का लक्षण है क्योकि यह शरीर

की इमूनोजीवलोचनी, रक्षी शक्तियों की [illegible] और [illegible] को प्रतिबिम्बित करता है।

कुष्ठाविक प्रकार का कुष्ठ ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण तथा नाक की विभाजक दीवार के उपास्थिक भाग की श्लेष्मल झिल्ली में विपुल संख्या में हैंसन-बासिलों की प्राप्ति द्वारा लक्षित होता है। [illegible] स्पैचुला (छलनी) या पाश से खुरची जाती है और स्लाइड पर लेप उसे [illegible] विधि से रंजित करके बनाया जाता है। ऊतक-रस में अनेक बासिल अनुवीक्षित होते हैं, ऊतक-रस क्षतिग्रस्त क्षेत्र के चर्म को क्षतांकित करके प्राप्त किया जाता है। ये रोगी बहुत ही छुतहे होते हैं।

गंठिवत प्रकार का कुष्ठ

यह कुष्ठ कही अधिक सुदम प्रवाह द्वारा लक्षित होता है। चर्म और परिसरीय नर्वों की आक्राति हावी रहती है। चर्म-क्षतियां तीक्ष्ण परिसीमित वर्णकहीन श्वित्र जैसी चित्तियो से या चमकीली ललछौंह नीली चित्तियों से लक्षित होती है, जिनके मध्य मे पीलापन (विवर्णता, फीकापन) होता है। चित्तियों के परिसर में बैगनी आभा की चौरस और कठोर बहुभुजी पिटिकाओं की विशेष प्रकार की सीमा होती है। पिटिकाएं संगम करके ललछौंह बैगनी या ललछौंह भूरी चौरस चकतियां बनाती है। ये आकार मे भिन्न होती है और कहीं-कही वलयाकार आकृतियां बनाती हैं। इन चकतियो के मध्य में निवर्णकता और कुपोषण का धीरे-धीरे विकास होता है।

प्रारंभिक चरण में पीड़ा और तापक्रम के प्रति संवेदिता और कुछ बाद मे स्पर्श की संवेदिता से संबधित गडबडिया गंठिवत कुष्ठ के लिये अत्यंत लक्षक विशेषता है। श्वित्रग्रस्त रोगियों मे, इसके विपरीत, इस प्रकार की संवेदिताओ को कोई क्षति नही पहुचती। इसके अतिरिक्त, श्वित्र के विपरीत कुष्ठ मे तनु 1 1000 हिस्टामीन के 0.1 मिलीलीटर की अंतर्चर्मि सुई से वर्णकहीन चित्ति के क्षेत्र मे ददौरे के गिर्द प्रतिवर्त-रक्तस्फीति संप्रेरित नही होती। ग्रस्त परिसरीय नर्व मोटे हो जाते है और गुलाब की तरह के सूजनो वाले स्थलो पर तनी हुई रस्सियों की तरह परिस्पर्शित होते हैं।

लेकिन गठिवत कुष्ठ में नर्व के तनों (बड़ी शाखाओं) की आक्राति ऐसी अभिव्यक्तियां उत्पन्न करती है, जो कुष्ठाबिक नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ से बहुत हल्की होती है। चर्म के उपागों की आक्रातियां (बालो का झड़ जाना, ग्रस्त क्षेत्रो मे स्वेद-स्राव की गडबडिया आदि) इस प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट है।

आतर अगो और अतःस्रावी ग्रंथियो की आक्राति अपेक्षाकृत कम होती है

ओर स्थिति सुदम होती है

लेप्रोमिन-परीक्षण धनात्मक विलंबित प्रतिक्रिया द्वारा लंछित होता है।

पिटिका का ऊतगदलोचन—सुचर्म के ऊपरी भाग मे मुख्यत पराकुभिक अतर्स्यदन मिलता है, जो लसकोशिकाओ, अल्पसख्या मे ऊतकोशिकाओ व उपकलावत कोशिकाओ और सामान्य मात्रा मे रेशाकुरो से बना होता है। अल्प सख्या में बासिलों से युक्त कुष्ठ-कोशिकाएं (ये विशाल प्रकार की कोशिकाए हैं) बहुत कम होती है, या बिल्कुल अनुपस्थित होती है। अतर्स्यदन मे कुष्ठार्विक कुष्ठ की अपेक्षा कम सख्या मे हैंसेन-बासिल होते है। कभी-कभी तो वे बिल्कुल ही अनुवेदित नही होते, फिर भी उग्रता-काल मे उनकी संख्या बहुत बढ सकती है।

अनिश्चित प्रकार का कुष्ठ

अल्प सख्या मे फीके धब्बों की उपस्थिति से, जिनकी सीमाए अस्पष्ट होती है, मापे और परिरेखाए भिन्न होती हैं, निदान कठिन हो जाता है। ऐसे रोगियो मे हैसेन के बासिलो का अनुवेदन विरले ही होता है। गदोतलोचनी चित्र मे सामान्य प्रकार के अविशिष्ट अतर्स्यदन दिखते है, जो विभिन्न प्रकार के चिरकालिक चर्मक्लेशो में भी मिलते हैं। अतर्स्यदों मे कुष्ठ के कोई बासिल नहीं मिलते। इस प्रकार का कुष्ठ कम छुतहा होता है, रोगी की सामान्य अवस्था अक्सर अच्छी होती है, वह अपने को महसूस भी अच्छा करता है। अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ मे चर्म के अतिरिक्त परिसरीय नर्वतत्र भी आक्रात होता है। इसके विशिष्ट नर्वशोथ मे श्वान्न (Schwann) की झिल्ली मोटी हो जाती है, परिनर्व (नर्व-आवरण) मे गोल कोशिकाओं का अतर्स्यद सचित हो जाता है और कुछ नर्व-बंडलो में कुष्ठ के सायोगिक बासिल भी मिल जाते हैं।

बहुनर्वशोथ का तल्पिक चित्र वैसा ही होता है जैसा गठित प्रकार के कुष्ठ मे, लेकिन गति-प्रेरण (मोटर), कुपोषण और संवेदनाओं से सबंधित गड़बडिया (कुपोषज व्रण, चिड़िया के पजे की तरह हाथ, घोडे की तरह के पैर का बनना) बहुत तीव्र हो सकती है। हैवाना मे गृहीत वर्गीकरण मे पहले इस प्रकार के कुष्ठ को चित्तीग्रस्त अनसवेदक या कुष्ठ का नार्विक रूप कहते थे।

अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ से ग्रस्त रोगी मे लेप्रोमिन की प्रतिक्रिया भिन्न हो सकती है। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले रोगी में इस प्रकार का कुष्ठ कुष्ठार्बिक प्रकार के संक्रमण कर सकता है। धनात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण अनुकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। इस स्थिति मे सिर्फ गठिवत प्रकार के कुष्ठ मे सक्रमण संभव है।

मिश्र या दुरूपिया प्रकार का कुष्ठ बच्चो मे (मुख्यत तीन या इससे अधिक उम्र के बच्चों में) अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है, बनिस्बत कि वयस्कों मे। इसमे

एक साथ विशिष्ट [illegible] सबंधित [illegible] पारिवक [illegible]

विभेदक निदान [illegible] और [illegible] के साथ किया जाता है।

चिकित्सा—कुष्ठ रोगियों की चिकित्सा [illegible] सल्फोन (sulphones) दवाओ से की जाती है। इसके अतिरिक्त [illegible] एथिलमेर्काप्टान के यौगिकों (एटोसिल), [illegible] (चालमुग्रा तेल और मुग्रोल) और [illegible] अम्ल [illegible] भी प्रलिखित किये जाते हैं।

डिआमीनोफेनिलसुल्फोन (DDS) और इसके [illegible] मुख्य एंटीकुष्ठ साधन है।

DDS, आव्लोसुल्फोन और डाप्सोन दो सप्ताह तक दिन में दो बार दिये जाते हैं (रविवार को छोड़कर), एक खुराक 0 05 ग्राम होती है। इसके बाद 6 महीने तक नित्य 0 1 ग्राम की खुराक दो बार दी जाती है।

सुल्फेट्रोन के 50 प्रतिशत सांद्र घोल की अंतर्पेशीय सुई सप्ताह मे दो बार दी जाती है, प्रथम सप्ताह मे 0.5 मिलीलीटर, दूसरे सप्ताह मे 1 0 मिलीलीटर, तीसरे सप्ताह में 1 5 मिलीलीटर, चौथे सप्ताह में 2.0 मिलीलीटर, पांचवें सप्ताह मे 2.5 मिलीलीटर और छठे सप्ताह में 3 0 मिलीलीटर, सातवें और आगे के सप्ताहों मे 3 5 मिलीलीटर। चिकित्सा छ. महीनो में 50 सुइयों म होती है।

हाल में एक नया एंटीकुष्ठ साधन डिउसीफोन संश्लिष्ट किया गया है। मुख्य एंटीकुष्ठ दवा DDS की तुलना में इसकी गरलता एक चौथाई है और लंबे समय तक देने पर भी कोई अवांछनीय प्रभाव नही उत्पन्न होते जैसा कि अक्सर सुल्फोनों के उपयोग से होता है। इस नयी दवा का 0.1-0 2 ग्राम दिन में तीन से पांच बार मुख मार्ग से दिया जाता है या इसके 5 प्रतिशत सांद्र घोल का 5 मिलीलीटर नित्य अतर्पेशीय सुई द्वारा दिया जाता है।

सुल्फोन की दवाएं यकृत एव वृक्क के कार्यो मे तीव्र एवं स्थायी गड़बड़िया होने पर प्रतिसकेतित हैं; वे रक्तोत्पादक अगो, हृत्कुंभिक तंत्र की अपूर्ति, तीव्र जठरात्र-रोगो और केंद्रीय नर्वतत्र के आतरिक रोगों में भी हानिकर है।

सुल्फोनों के अवांछनीय प्रभाव निम्न हैं—अनपच, सिरदर्द, चक्कर, गरलताजनक चर्मशोथ और कुछ स्थितियों मे अवरंगी रक्ताल्पता तथा यकृतशोथ। जब ये विकसित होते हैं, खुराक घटा दी जाती है या कुछ समय के लिये दवा रोक दी जाती है।

तीव्र मृदूतकीय यकृतशोथ मे सुल्फोन दवाए रोक दी जाती हैं और विस्तर

म पूर्ण विश्राम, वसा और मसालों पर रोक (आहार में), विटामिन B_{12} और B_{15} आस्कोर्बिक तथा नीकोटीनिक अम्ल, ग्लूकोज अल्कोहल, मेथिओनीन और तीव्र स्थितियों मे कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन (बच्चे की दैनिक खुराक 1 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम) प्रलिखित किये जाते है।

अवतीव या चिरकालिक यकृतशोथ से ग्रस्त कुष्ठ रोगी को सुल्फोन सावधानी क साथ अल्प खुराकों मे दिये जाते है और यकृत के कार्य का नियमित रूप से परीक्षण किया जाता है। यकृत का कार्य सुधारने वाली औषधिया (विटामिन, B_{12} और B_{15} नीकोटीनिक अम्ल, लीपोकेन के साथ मेथिओनीन, ग्लूकोज, खोलोजास, आल्लोखोल आदि) और सही आहार प्रलिखित किया जाता है।

रक्ताल्पता की चिकित्सा लौह प्रसाधनो (हेमोस्टीमूलिन, अवकृत फेरस लैक्टेट आदि), विटामिन B_{12} विटामिन बी-सकुल, आस्कोर्बिक अम्ल, आखडित (अशो मे) रक्ताधान आदि से की जाती है।

'सीबा-1906' और एथोक्सीडुम--ये थिओयूरिया के व्युत्पाद हैं और सुल्फोनो की तुलना मे कम गरलकारी हैं। 'सीबा 1906' (थिओकार्बोनीजीड) नित्य एक बार मुखमार्ग से सोमवार से शनिवार तक दिया जाता है–पहले व दूसरे सप्ताह मे 0.5 ग्राम, तीसरे से छठे सप्ताह तक 1.0 ग्राम, सातवे से बारहवे सप्ताह तक 2 5 ग्राम और इसके बाद चिकित्सा के अत तक 2 0 ग्राम। पूरी चिकित्सा 40 सप्ताह चलती है (रविवारो को छोडकर); इसके बाद महीने का विराम किया जाता है।

एथोक्सीडुम मुखमार्ग से नित्य तीन बार दिया जाता है—प्रथम सप्ताह 0.1 ग्राम की खुराकों मे, दूसरे सप्ताह 0.2 ग्राम की और तीसरे सप्ताह से 0.3 ग्राम की खुराकों में। जब दवा अच्छी तरह सहन होने लगती है, तब कुछ रोगियो के लिये 21वें सप्ताह से एक खुराक की मात्रा 0.5 ग्राम तक बढा दी जाती हे। चिकित्सा 40 दिन तक चलती है (रविवारों को छोडकर) और इसके बाद एक महीने का विराम किया जाता है।

एटीसुल (एथिलमेर्काप्टान ग्रुप का एक यौगिक) सुल्फोनो के चिकित्सकीय गुणो मे स्पष्ट वृद्धि करता है। 5 ग्राम की खुराक बारी-बारी से बाहो, वक्ष, पेट और पीठ की त्वचा मे मली जाती है (सप्ताह मे तीन बार), बालो वाले चर्म-क्षेत्र और चेहरे की त्वचा को अछूता रखा जाता है। एटीसुल की जगह 10 प्रतिशत सांद्र सुल्फेट्रोन-मलहम भी प्रयुक्त हो सकता है। मलने का काम हर बार 20 मिनट तक चलता है, इसके बाद त्वचा को एक घंटा तक अनावृत छोड देते है, फिर फुहार मे स्नान कराया जाता है। साथ-साथ DDS (या आव्लोसुल्फोन) भी प्रलिखित किया जाता है—100 मिलीग्राम नित्य एक बार (चार सप्ताह तक)। अच्छी सहनशीलता

होने पर इसकी खुराक 200 मिलीग्राम तक बढ़ाई जा सकती है (आधी मात्रा सुबह और बाकी शाम को), लेकिन यह कदम सावधानी से ही किया जाता है। चिकित्सा छः महीने तक चलती है।

चालमूग्रा के प्रसाधन—इसका तेल और इसके तेल का एथिल ईथर (मुगोल) सुल्फोन-चिकित्सा के दौरान या चिकित्सा के बीच विराम-काल में सहायक साधनों की तरह प्रयुक्त होते हैं। चालमूग्रा के प्रसाधन अंतर्चर्म सुई द्वारा सप्ताह में दो बार दिये जाते हैं; पहली बार सुई में 0.5-1.0 मिलीलीटर दी जाती है, फिर प्रत्येक सुई मे 1.0 मिलीलीटर बढाते हुए कुल मात्रा 5.0 मिलीलीटर तक पहुचायी जाती है। इसका दौर कुल 30 सत्र में प्रत्येक सत्र में दस से 100 अंतर्चर्म सुइयां दी जाती है (1.0 मिलीलीटर की मात्रा 20 सुइयों मे दी जाती है, ताकि त्वचा का क्षेत्र नारगी के छिलके जैसा दिखने लगता है)। सत्रो के बीच एक-एक महीने का विराम रखा जाता है। दवा का सुई द्वारा आधान पहले चर्म के ग्रस्त क्षेत्रो मे होता है, फिर उन क्षेत्रो मे, जो सामान्य दिखते हैं। जिस क्षेत्र की चिकित्सा की जाती है, वहा फिर सुई कम-से-कम एक महीना बाद ही लगानी चाहिए।

एथिओनामीड आइसोनीकोटिनिक अम्ल का एक प्रसाधन है। इससे चिकित्सा का एक दौर छ महीनों तक चलता है। टिकिया भोजन से एक घटा पहले ली जाती हैं और ऊपर से पानी (अक्षारीय) पिया जाता है। पहले नित्य 0.25 ग्राम लिया जाता है, फिर पाच दिनो में खुराक 0.5 ग्राम तक बढायी जाती है (दिन में दो बार आधा-आधा)। यदि दवा अच्छी तरह सहन हो जाती है, तो दैनिक खुराक 0.75 ग्राम तक बढाई जाती है। (दिन मे तीन बार 0.25 ग्राम)। यह 11वें दिन से किया जाता है। 50 किलोग्राम भारी रोगियों की और बड़े बच्चों की दैनिक खुराक 0.5 ग्राम से अधिक नही होनी चाहिए।

दवा का चुनाव और खुराक की मात्रा हर व्यक्ति के लिय अलग-अलग उसके शारीरिक गुणो के आधार पर होनी चाहिए। ऊपर प्रस्तावित खुराकें (एक, दैनिक और पूरी चिकित्सा के दौर की) वयस्कों के लिये है। बच्चों के लिये ये खुराकें उम्र और शरीर के भार के अनुसार होनी चाहिए; शरीर की सामान्य अवस्था और प्रतिकारिता, रोग के विकास-चरण और कुष्ठ-प्रक्रिया की प्रकृति को भी ध्यान मे रखा जाता है।

चिरकालिक एव अंतरालयुक्त चिकित्सा-विधियों की सलाह दी जाती है। दवा के प्रति अभ्यस्तता को रोकने के लिये उसे बदलते रहते है या विभिन्न एटीकुष्ठ प्रसाधनों का मेल प्रयुक्त करते हैं (दो या अधिक-से-अधिक तीन दवाओ का इस प्रकार प्रयोग होता है कि कुल खुराक ज्यों-की-त्यो रहे। परस्पर सबधित दवाओ को निश्चय ही एक साथ नही प्रलिखित करना चाहिए (जैसे सुल्फोन और

DDS, 'सीवा-1906' और एथांक्सीडुम को एक साथ देना निरर्थक है)।

चिकित्सा की अवधि दवा के प्रति सहनशीलता, रोग के प्रकार और चरण, रोगी की अवस्था आदि घटको पर निर्भर करती है।

एंटीकुष्ठ चिकित्सा के साथ-साथ सामान्य स्फूर्तिदायक युक्तियों का सकुल और विटामिनो से भरपूर पर्याप्त एव विविध आहार भी प्रयुक्त होता है। हाल मे कुष्ठ की चिकित्सा की विशिष्ट दवाओ के साथ-साथ इनकी रासायनिक चिकित्सकीय प्रभाव को बढाने वाले प्रसाधनो का भी सफलतापूर्वक उपयोग हो रहा है। इनमे निम्न नाम आते है—4-मेथिलउरासिल (मेथासिल) और पेंटोक्सिल। जब भी आवश्यकता होती है, अगसोझक, करोर्जिक, नेत्रलोचनी और कर्णकठलोचनी सहायता भी दी जाती है, आतर रोगो की चिकित्सा की जाती है।

सफाई और हाइजिन की उचित परिस्थितियां बनाये रखना, रोगी को व्यक्तिगत हाइजिन के नियम समझाना, सही दिनचर्या का पालन करना और यह विश्वास दिलाना की वह पुनः स्वस्थ हो जायेगा, ये सभी बातें अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अल्कोहलिक पेय वर्जित है।

निरोध—जिस क्षेत्र से रोगी आया है, वहा के सभी निवासियो का परीक्षण करना चाहिए। जो लोग रोगी के सपर्क मे लबे समय से थे, उनकी विशेष रूप से जाच होनी चाहिए। इन लोगों और खासकर सगे-संबधियो का लेप्रोमिन-परीक्षण अवश्य होना चाहिए (पूर्ण तल्पिक परीक्षण और नासा-विभाजक भित्ति की खुरचनो का परीक्षण भी करना चाहिए)। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले लोगो का सावधानी से परीक्षण करना चाहिए और निरोधक चिकित्सा देनी चाहिए।

यह ध्यान में रखते हुए कि गर्भाशय में स्थित बच्चा मां से कुष्ठ नही प्राप्त करता, वह जन्म के बाद मां के संसर्ग से इसे प्राप्त करता है, बच्चे को जन्मोपरात तुरत रोगी मां-बाप से अलग कर देना चाहिए।

जिस इलाके मे कुष्ठ-रोगी अनुवेदित होता है, वहा के सभी लोगो को प्रतियक्ष्मा टीका और BCG-टीका (काल्मेट-गेरीन टीका) दी जाती है। सभी ज्ञात रोगियों को एक पृथक्कृत कुष्ठाश्रम मे रखना चाहिए, जहा उन्हे कारगर चिकित्सा दी जा सके। एंटीकुष्ट प्रतिष्ठान से रोगी को छुट्टी देने के सुसकेत सोवियत संघ के स्वास्थ्य मंत्रालय के विशेष आदेश (28 मई, 1962) में निर्दिष्ट हैं।

लोगों की जीवन-परिस्थितियो, सामाजिक कल्याण व स्वास्थ्य-सेवा मे निरतर उन्नति विभिन्न रोगों के निरोध में एक महत्त्वपूर्ण घटक है, जिनमें कुष्ठ भी एक है।

चर्म-यक्ष्मा (चर्म-गंठिक्लेश)

सामान्य सूचनाएं

चर्म-यक्ष्मा सभी देशों में पाया जाता है। गठिक (tuberculous) रोग एक विशेष ग्रुप बनाते हैं, जो नैदानिक व रूपलोचनी विशेषताओं और परिणामों में भिन्न होते हैं। अधिकांश के लिये चिरकालिक एवं पुनरावर्ती प्रवाह विशेष लक्षण है।

हेतुलोचन—यक्ष्मा (गंठिक्लेश--tuberculosis) उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरियों की खोज रोबर्ट कोख ने 1882 में की थी।

गंठिक्लेश उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरी या मीकोबाक्तेरी (मीकोबाक्तेरिउम टुबेरकुलोसिस, संक्षेप में मी-यक्ष्मा) बहुरूपी होते हैं, इनके विकासचरण विविध हैं। ये धागे जैसे, छडी जैसे (बासिल), गोल और अतस्यंद होते हैं। ये एसिड-फास्ट और ग्राम धनात्मक होते हैं, इनकी लंबाई 2-4 मिक्रोमीटर और चौडाई 0.2-0.6 मिक्रोमीटर होती है, इनका कैप्सूल नहीं होता, ये स्पोर नहीं बनाते। मी-यक्ष्मा त्सील-नील्सेन की विधि से रजित होते हैं; ये वातजीवी हैं और विभिन्न माध्यमों में जी सकते हैं। शुष्क (सूख गये) थूक में भी ये कई सप्ताह तक जीवनक्षम रहते हैं। 5 प्रतिशत सांद्र फेनोल-घोल को उतने ही थूक में मिलाने पर ये सिर्फ छः घंटे के बाद ही मरते हैं।

सिर्फ तीन प्रकार के मी-यक्ष्मा आदमी के लिये गदजनक महत्व रखते हैं--मानुषी (typus humanus), मवेशिक (गाय-बैल के, typus bovinus) और वातीय (typus avium)। मानुषी मीकोबाक्तेरी चर्म-गंठिक्लेश के अधिकेंद्रों में सबसे अधिक पाये जाने वाले जीवाणु हैं, मवेपिक अपेक्षाकृत कम अनुवेदित होते हैं (एक चतुर्थांश से पचाश केसों में) और वातीय प्रकार के जीवाणु बहुत विरले ही पाये जाते है।

गंठिक्लेश के अन्य रूपो (क्लोमिक, अस्थीय) की तुलना मे चर्म की गठिक क्षतियां बहुत विरल है। जीवन-परिस्थितियो तथा स्वास्थ्य-शिक्षा की उन्नति ओर चिकित्सा व निरोध की उपलब्धियो के कारण सोवियत संघ में अब चर्म-गंठिक्लेश एक विरल रोग है। यह भी उल्लेखनीय है कि चर्म के प्राथमिक गंठिक्लेश (प्राथमिक गठिक कंठव्रण और तीव्र वर्जरिक गठिक्लेश) पहले भी विरल थे। चर्म-गठिक्लेश उन्ही लोगों में विकसित होता है, जिन्हें पहले कभी गठिक्लेश हुआ होता है, या जो शरीर के अन्य अंगो या तंत्रो के गठिक्लेश से ग्रस्त होते हैं।

गदजनन--चर्म की गठिक क्षतियों के विकास की युक्ति का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नही हुआ है। ऐसी धारणा है कि सामान्य चर्म मी-यक्ष्मा की जीवन-क्रियाओ के लिये अनुकूल माध्यम नही है, सिर्फ विशेष परिस्थितियो मे ही चर्म की गठिक आक्राति सभव है। निम्न घटकों को कुछ हद तक महत्त्वपूर्ण माना

जाता है—हर्मोनिक अपक्रिया, नर्वतंत्र की अवस्था, विटामिन-संतुलन की अवस्था, शरीर में जल और खनिजों का विनिमय, कुभिक गड़बड़ियां (रक्तस्फीति, कुभिक दीवारों की बंधिता और प्रतिरोध में परिवर्तन) आदि। सामाजिक घटक भी महत्त्वपूर्ण होते है—जीवन-स्तर, आहार, हानिकर वृत्तिक घटक आदि। अन्य सम्प्रेरक घटकों मे जलवायवी (जैसे पराबैंगनी किरणों की कमी), सामान्य पैठी रोग (खसरा, शोण-ज्वर आदि) का नाम लिया जा सकता है, जो शरीर का रक्षी प्रतिकारी बल क्षीण कर देते है। इमूनता और परोर्जन की अवस्थाएं भी चर्म की गठिक क्षतियों के विकास मे विशेष भूमिका निभाती है। चर्म मे योजक-ऊतकीय घटकों की प्रचुरता और उनके विविध रक्षी शरीरलोचनी कार्य चर्म में बाधा डालते हे, इसीलिये अन्य अंगों मे गठिक्लेश की विभिन्न अभिव्यक्तियों के बावजूद चर्म इससे अछूता रह जाता है।

चर्म-गठिक्लेश सिर्फ चर्म के विभिन्न शरीरलोचनी कार्यो मे गड़बड़ियों के सकुल के फलस्वरूप ही विकसित होता हे, जिसके साथ-साथ इमूनता में ह्रास और सवेदीकरण का विकास प्रेक्षित होता है। ऐसी स्थितियो में नियमतः निमित्त कारणो की विषालुता और परोर्जक क्षमता बढ जाती है। अविशिष्ट इमूनता जितनी ही कमजोर होती है, परार्जक सक्रियता उतनी ही सक्रिय हो जाती है (यू. स्क्रीप्किन)। विशिष्ट संवेदीकरण परा-परोर्जिक सवृत्तियों और अविशिष्ट परोर्जक प्रभावों द्वारा तीव्र हो उठता ह। टुबेरकूलिन के प्रति यक्ष्मा-रोगी की अतिसवेदिता स मी यक्ष्मा की सवेदीकारी क्षमता सिद्ध होती है। गठिक परोर्जीकरण की सपुष्टि स्थानिक (टुबेरकूलिन की सुई के स्थल पर) प्रतिक्रिया से ही नही, वरन् अधिकेंद्रो मे उग्रता और पूरे शरीर की सामान्य प्रतिक्रिया (ज्वर, अस्वस्थता, कपकपी आदि) से भी होती है।

गदलोचनी क्षेत्र के ऊतको में निमित्त कारण का अनुवेदन, पोषक माध्यम मे मी-यक्ष्मा का पनपना, जतुओ मे गदलोचनी द्रव्य के आधान के धनात्मक परिणाम (विशेषकर गीनिया पिग मे, जो यक्ष्माकारी बासिलो के प्रति बहुत संवेदी होता है), चर्म में एक गठिवत सरचना की उपस्थिति, और इन सबके साथ-साथ टुबेरकूलिन-परीक्षण-पिर्के (Pirquet), और मटो (Mantoux) के परीक्षण के परिणाम चर्मरोग के गार्क्षिमक हेतुलोचन के प्रमाण है। चर्म-गठिक्लेश के अनेक केसो मे (विशेषकर इसके प्रकीर्णित रूप मे) ये रीतिया ऋणात्मक परिणाम देती है। ऐसे केसो मे अधिक व्यापक परीक्षण करना पड़ता है, जिसमे पूर्ण आयुर-वृत्त (जन्म से सभी रोगों और स्वास्थ्य-अवस्था के इतिहास), माता-पिता के स्वास्थ्य, क्लोम तथा लसतंत्र की अवस्था आदि (चर्म-यक्ष्मा के प्रकीर्णित रूप मे ग्रस्त 80 से 100 प्रतिशत बच्चो में क्लोम तथा लसतत्र आक्रात हो जाते है)। जटिल केसो के लाभ-प्रेक्षण के आधार पर निदान किया जाता है (किस प्रकार की दवा या चिकित्सा से लाभ होता है, इसके आधार पर—diagnosii ex

j vant bus लाभ न निगा।

चर्म-गठिक्लेश के तात्विक रूपों की विशिष्टता अनेक कारकों द्वारा निर्धारित होती है, जिनमें चर्म की इमूनोजीवरासायनिक प्रतिकारिता एक मुख्य भूमिका निभाती है। रोगी की उम्र का भी एक निश्चित महत्त्व होता है। कंठमाल चर्मता, वृका और शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा अक्सर बचपन और कैशोर्य में विकसित होते हैं, जबकि मसेदार चर्म यक्ष्मा और कठललामी मुख्यतः वयस्कों को ग्रस्त करती है। जलवायवी (अभिनतिक) परिस्थितियां भी यक्ष्मा की जीवन-क्रिया के अनुकूल भी हो सकती हैं और प्रतिकूल भी। उदाहरणतः, क्रीमिया, काकेशिया और एशिया के निवासी यक्ष्मज वृका से विरले ही ग्रस्त होते हैं।

यक्ष्माकारी दासिल चर्म में बहिर्जनित या अन्तर्जनित मार्ग से प्रविष्ट हो सकते है। प्रथम स्थिति मे निमित्त जीवाणु स्वस्थ व्यक्ति के चर्म में अधिचर्म के विदार या निशल्कन के मार्ग से रोगी व्यक्ति या जतु से, अथवा किसी अन्य वस्तु से सक्रमण कर सकते है (जैसे कसाईखाने में)। वैसे, यह पैठनमार्ग विरल है। अतर्जनित पैठन अधिक सामान्य (प्रायिक) है—किसी अन्य अंग (क्लोम, अस्थियों, लसपर्वों आदि) मे स्थित गठिक अधिकेंद्र से जीवाणु चर्म में रक्त के सहारे (रक्तजनित मार्ग से) या लसीका के सहारे (लसजनित मार्ग से) पैठन करते हैं। यह पैठन की अपवहनरीति है, जिसे प्रकीर्णित वर्जरिक चर्म-यक्ष्मा, यक्ष्मज वृका का प्रकीर्णित रूप आदि विकसित हो सकता है। निकटवर्ती आक्रांत अंग से सतत प्रसार द्वारा या थूक, मल-मूत्र में उपस्थित भी यक्ष्मा के स्व-आधान द्वारा भी चर्म मे पैठन सभव है, जैसे आत्र-यक्ष्मा से ग्रस्त रोगी के पृष्ठद्वार के गिर्द और क्लोमिक यक्ष्मा के रोगी की मुख-श्लेष्मला पर गठिक प्रक्रियाएं शुरू हो जाती है।

चर्म की गठिक आक्रातियों का कोई पूर्ण और संतोषप्रद वर्गीकरण नही है। चर्म-यक्ष्मा के बहुसख्य रूपो को दो ग्रुपों में बाटा गया है—स्थानाबद्ध (अधिकेंद्रयुक्त) और प्रकीर्णित। सामान्य वृका (यक्ष्मज वृका), कठमाल-चर्मता (संगलक यक्ष्मा), मसेदार चर्म-यक्ष्मा, व्रणित चर्म यक्ष्मा और बाजिन (Bazin) का रोग (कठललामी) सामान्यतम स्थानाबद्ध रूप हैं। वर्जरिक गठिक्लेश, शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा (पुराना नाम—कठमालकारी शैवाक) और पिटिकामृतिक गठिक्लेश प्रकीर्णित चर्म यक्ष्मा का ग्रुप बनाते हैं।

स्थानाबद्ध रूप (अधिकेंद्रिक चर्मयक्ष्मा)

सामान्य वृका या वृकीय चार्म गठिक्लेश

यह चर्म-यक्ष्मा का सबसे प्रायिक रूप है। यह चिरकालिक, मद तथा प्रगामी प्रवाह और की प्रवृत्ति द्वारा लक्षित होता है रोग अक्सर बचपन में शुरू होता

नक (कभी-कभी तो जीवनभर) बना रहता है। पिछले सम
ा इसकी प्रायिकता बढ़ने लगी है।

(या सामान्य) वृका अक्सर चेहरे पर, विशेषकर नाक पर
में), गालो, ऊपरी होठों और कभी-कभी गरदन, धड तथा हाथ
होता है; अक्सर यह श्लेष्मल झिल्लियो पर भी विकसित हो
) प्रतिशत रोगियो मे)।

ा से सबधित कृतियो मे निम्न आकड़े मिलते हैं—सामान्य वृका
ात रोगियो को क्लोमिक यक्ष्मा रहता है, 5 से 20 प्रतिशत
ं अस्थि-सधियो का यक्ष्मा रहता है। चर्म मुख्यत· रक्तजनित
र्ग से आक्रात होता है। प्रक्रिया अक्सर चोटज क्षति (कटने-फटने
है, जिसमें अव्यक्त पैठन सक्रिय हो उठता है।



सामान्य वृका

रोग का आरम्भ गुलाबी [illegible]
मटर के दाने के आकार की [illegible]
जिस पर विभिन्न तीव्रता की [illegible]
होती है, उनकी सतह चिकनी और [illegible]
शल्कन शुरू हो जाते हैं। [illegible]
अलग-अलग होते हैं, फिर बाद में मिल जाते हैं, [illegible]
क्षेत्र दिखाई देता है। चूंकि प्रत्यास्थ [illegible] के कारण पिटिका
में पेस्ट जैसा मुलायम द्रव्य होता है, इसलिये [illegible]
नहीं) से दबाने पर वह पूरा गहराई तक गड्ढा बना देती है [illegible]
एक अन्य लक्षण भी है, जिसका निदान के लिये कुछ कम महत्व नहीं है (डायस्कोपी)—जब कांच के पतले पट्ट का वृका के अधिकेंद्र पर दबाया जाता है, रक्त विस्फारित केशिकाओं से निकलकर दूर हो जाता है और वहां का ऊतक विवर्ण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वृकार्ब मोम सदृश पीले-भूरे धब्बे की तरह दिखने लगता है। भूरा रंग सेब की जेली जैसा लगता है, इसलिये इस लक्षण को 'सेब-जेली की संवृत्ति' का नाम दिया गया है।

पिटिकाएं धीरे-धीरे बढ़ती हैं, समाम करके अनियमित आकार के धब्बे बना लेती हैं, जिसमें गुल्म जैसे अधिकेंद्र होते हैं। बड़े व्रण अनस्थित के भरने होने से बनते हैं। सामान्य वृका के 4 प्रतिशत केस कर्काशिर्कीय या आधार कोशिकीय कर्कार्ब से क्लिष्ट हो जाते हैं। वृकीय अतर्यदों के शुष्क अपचोषण से कुपापी दाग रह जाते हैं। वृकार्ब के स्थल पर बनने वाले दाग चौरस, श्वताभ और देखने में सिगरेटी कागज जैसे होते हैं। वृकीय क्षतिया कुपोषी दाग के स्थल पर दुबारा भी उत्पन्न हो सकती है (गदोचीनक चिह्न)। सामान्य वृका के कई नत्पिक रूप हैं, जो पर्विकाओं के बाह्य रूप, किन्ही विकास-चरणों के प्राबल्य और रोग-प्रक्रिया के प्रवाह द्वारा विभेदित होते हैं।

ऊपर वर्णित मुख्य रूप को चौरस वृका कहते है, जिसके दो भेद हैं- चौरस चित्तीनुमा वृका और चौरस गठिक वृका। प्रथम में वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभरे हुए नहीं होते, दूसरे रूप मे वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभरकर गाठों की तरह मोटे (और परिसीमित) धब्बे बना लेते है।

गुल्मवत वृका ऐसी अवस्था है, जिसमे गुल्म जैसी मुलायम क्षतिया उत्पन्न होती है; दरअसल ये नन्हीं, परस्पर सत्नीन पर्विकाओं का जमघट होती है। ये कान और नाक की नोक पर स्थित होती है और इनमे व्रण्य अपघटन की प्रवृत्ति होती है।

ललामीवत सामान्य वृका प्रचड अनिरक्तिल अधिकेंद्रों और स्पष्ट अतिश्रृंगनता

द्वारा लछित होता है

शल्की वृका मे शृगी परत ढीली हो जाती है और वृकीय अधिकेंद्र पर स्पष्ट शल्कन शुरू हो जाता है।

अतिकुपोपी मसेदार वृका मे वृकार्वो पर कीलक जैसे बडे-बडे अतिशृंगिक प्रवर्ध वन जाते हे।

विव्रणित वृका अधिकेंद्र के विस्तृत व्रणन द्वारा लछित होता है। व्रण सतही होते है और उनकी परिरेखाए अनियमित एव शुक्तिक होती है। किनारिया मुलायम और सुरगित होती हैं और तली गंदे-भूरे कीलक जैसे कणीकरण से ढकी होती है और सरलतापूर्वक रक्त-स्राव करने लगती है।

कुछ केसो मे गहराई पर स्थित ऊतक (उपास्थिया, अस्थिया, मधिया) भी विनाशकारी व्रणन की चपेट मे आ जाते है। इससे विकलागता, रेशेदार व गुल्मवत क्षतांक, नाक, कान, पलक, उगलियो और हाथ-पैर के आकार में विकृति उत्पन्न होती है (विकलांगकारी वृका)। नाक की विभाजक भित्ति और उपास्थि के नष्ट होने से वह चिड़िया की चोच जैसी छोटी और नुकीली हो जाती है। पलकों का उलटना (विवर्तन), मुंह का सकरा होना, कर्ण-पालिका और कर्ण-कुहर की विकृति भी पायी जाती हैं। इन सवसे रोगी बदशक्ल हो जाता है।

श्लेष्मल वृकीय गटिक्लेश नाक और मुंह की श्लेष्मलाओं की आक्रांति है, जो कभी-कभी असपृक्त भी होती है। मुह मे मसूढों और कठोर तालू की श्लेष्मल झिल्लियां रोग-प्रक्रिया के प्रिय स्थल हैं। शुरू मे बाजरे के दाने जैसी नन्ही नीलाभ लाल गठिकाए उत्पन्न होती है; ये इतनी पास-पास होती है कि ग्रस्त क्षेत्र की सतह दानेदार दिखने लगती है। उनमे निरतर चोट आदि लगते रहने से वे व्रणित होने लगती है। व्रणों की सीमा अनियमित शुक्तिक (सीप की सीमारेखा जैसी) होती है और तली कणदार (दानेदार) होती है। इनसे सरलतापूर्वक रक्त रिसने लगता है और ये एक पीली झिल्ली से आच्छादित होते है। व्रणों के गिर्द यदाकदा गंठिकाए भी नजर आती है। प्रक्रिया वर्षो तक चलती रहती है, बहुत धीरे-धीरे आगे बढती है और इसके साथ-साथ लसग्रंथिशोथ व श्लीपद भी शुरू हो जाते है। जब क्षतिया त्वचा पर भी पायी जाती है, तव निदान सरल हो जाता है। नासा-श्लेष्मला की आक्रांति गहरे नीले रंग के मुलायम पर्विकीय अतर्स्यदन द्वारा लछित होती है, जो सरलतापूर्वक रक्त रिसाने वाले व्रण बनाते हुए अपघटित हो जाता है। उपास्थि के नष्ट हो जाने के कारण नाक पर एक आरपार छेद बन जाता है। चेहरे के चर्म मे सामान्य वृका की आक्रांति से पूर्व नासा-श्लेष्मला मे क्षति उत्पन्न होती है।

अन्य रूप भी वर्णित किये गये हैं—बुसनरूपी सामान्य वृका, जिसमें शृगन प्रक्रिया मे गडबडी के कारण हल्का शल्कन होने लगता है खर्जुरूपी सामान्य वृका

जिसमें शल्कों पर चांदी की तरह चमकीली आभा होती है, विसर्पी सामान्य वृका, जिसमें केंद्रस्थ वृकाब नव कुपोषी क्षताक बनाता हुआ अपगमित हो जाता है, परिसर पर (और पुराने वृकार्ब की जगह भी) नये वृकाब उत्पन्न होने लगते है। इन स्थितियों में अधिकेंद्रों का परिवेश बिल्कुल भिन्न प्रकार का हो जाती है। सामान्य वृका के अन्य रूप भी हैं, जैसे– अपशल्की, पस्तरवन, मस्सेवन।

सामान्य वृका अक्सर निम्न रोगों से क्लिष्ट हो जाता है—चर्मशोण से (नाक, होंठ, पैर के रोगग्रस्त चर्म-क्षेत्र पर), लसकुभीशोथ से, एक पूयकारी प्रक्रिया से (इपेतिग वृका) और चर्मकर्कार्ब (कर्कार्बी वृका) से, जो विशेष खतरनाक होता है, यह कुपोषी वृकीय क्षतांकों के परिप्रेक्ष्य से विकसित होता है। कर्कार्बी वृका अधिकांशतः उन लोगों के चेहरे के चर्म पर होता है, जो बहुत लंबी अवधि से सामान्य वृका की चपेट में रहते है।

ऊतगदलोचन—सुचर्म में गठिकाएं उत्पन्न होती हैं, जो उपकलीय एव विशाल कोशिकाओं से बनी होती है और लसकोशिकाओं के एक क्षेत्र मे घिरी रहती हैं। लागहास (Langhans) की विशाल कोशिकाएं गठिका के मध्य में होती हे। परिसरीय क्षेत्र में लसकोशिकाओं के अतिरिक्त प्लाज्मा-कोशिकाएं भी बहुत बडी संख्या में उपस्थित रहती हे। गठिकाओं मे पनीर-सदृश विमृति नही होती, या बहुत कम होती है। यत्र-तत्र ऐसी भी कुभियां मिलती है, जिनका आवरण बदल चुका होता है और यहा तक कि छेद (भीतरी मार्ग) भी अवरुद्ध रहता है। मी-यक्ष्मा मुश्किल से मिलते हैं और बहुत ही कम सख्या में होते हैं। कभी-कभी विशाल कोशिकाओं से युक्त विसरित लसवत अतर्स्यदन का पता चलता है; उसमे कोलाजनी प्रत्यास्थ ऊतक नहीं होते। अधिचर्म में परिवर्तनों की प्रकृति द्वितीयक होती है—अतिशृंगनता, कंटलयक्लेश और पिटिकार्बक्लेश (मसेदार वृका में)। वृकीय व्रणों की किनारियों पर अधिचर्म स्पष्ट कंटलयन की अवस्था में होता है। वृकीय अंतर्स्यदन कभी-कभी क्षतांकों के क्षेत्र मे बचा रह जाता है, जिससे क्षताकित ऊतक पर वृकार्ब का पुनरावर्तन हो जाता है।

निदान निम्न पर आधारित होता है—रोग के तल्पिक लक्षणों, वृकार्बो के लछक गुण ('सेब की जेली' और पोस्पेलोव के लक्षण), उनके स्थान, प्रक्रिया के प्रवाह, क्षतांकों की प्रकृति।

विभेदक निदान गठिकीय सीफिलिस, कुष्ठ व लेइशमैनता के गठिवत रूपों, अशुकवकता, ललामक्लेशिक वृका के डिस्कवत (डिस्कोइड, चकतीनुमा) रूप के साथ किया जाता है। गठिकीय सीफिलिस मे गठिकाए कठोर होती है, अधिकेंद्रो के रूप में व्यवस्थित रहती है, उनमे सगम की प्रवृत्ति नही होती। अन्य बातें—डायस्कोपी और पोस्पेलोव लक्षण ज्ञात करने के परिणाम होते है गठिकाओ के

अपचोषण के बाद क्षताकों की मोजेक जैसी सज्जा बन जाती है (अनियमित तलाकृतियो और असमरूप वर्णकता के कारण), अपचोषण के वाद नयी गठिकाए नही बनती, प्रक्रिया का प्रवाह अपेक्षाकृत तीव्र होता है (कुछेक सप्ताह से कुछेक महीनों मे, लेकिन वर्षो तक कभी नहीं चलती), कुछ केसो मे सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणाम। कुष्ठ के गठिवत रूप की निम्न विशेषताए हैं—ग्रस्त चर्म-क्षेत्र से पीडा एव तापक्रम की संवेदना का लोप, क्षतियो की बहुरूपता (चित्तीनुमा, पिटिकीय, गठिकीय क्षतिया); पिटिकाओ व गठिकाओं की कठोर बनावट तथा जंकाह भूरी आभा; चर्म मे पोषण सबधी विस्तृत गडबड़िया, वृकार्ब के ऊतक-द्रव के सूक्ष्मदर्शन से हांसेन के बासिलो का अनुवेदन। चर्म-लेइशमैनता के गंठिवत रूप के निदान मे महत्त्वपूर्ण बाते निम्न है—आयुर-वृत्त (जैसे रोगी का बहुमारी-क्षेत्र मे रह चुकना); लेइशमैनार्ब के स्वस्थ होने पर क्षतांक के गिर्द गठिकाओं का अवस्थित होना, लैइशमैनार्ब के गिर्द मोती जैसे स्थूलन के रूप मे लसकुभीशोथ का विकास, खुले चर्म-क्षेत्रो पर गंठिकाओ की स्थिति; गठिकाओ का शीघ्र प्रचुर पूयस्राव के साथ वर्णन; निमित्त जीवाणु का अनुवेदन। अंशुकवकता मे गठिकीय क्षतियां विरल हैं, वे कठोर होती है, उनमें परस्पर सगम की प्रवृत्ति होती है। नासूरो के मुंह कठोर अतर्स्यदन से घिरे होते हैं। द्रव पूय में पीले पनीर जैसे दाने दिखाई देते हैं (आक्तीनोमीत के ड्रजेन)। सामान्य वृका के कुछ रूप (जो नाक व गालो पर स्थित होते है और शल्कन व अतिशृंगनता से लछित होते हैं) ललामक्लेशिक वृका से मिलते-जुलते हो सकते है। कुछ केसो में बिओप्सी (बायोप्सी) तथा ऊतलोचनी परीक्षण की सहायता लेनी पड़ती है।

चिकित्सा—विटामिन D_2 (दैनिक खुराक 30000-50000-100000U) और फ्थीवाजिड या इजोनिआजिड (0 3-0.5 ग्राम दिन में तीन बार, कुल खुराक 100-2000 ग्राम) मुखमार्ग से दिया जाता है। स्त्रेप्तोमीसिन की सुइयां (दैनिक खुराक 0.5-1.0 ग्राम) की कुल खुराक 100 ग्राम प्रलिखित की जाती है। ये दवाए उपचारकर्ता की सतत निगरानी में दी जाती हैं, क्योंकि इनसे अवांछनीय प्रभावो एव क्लिष्टताओं के उत्पन्न होने का खतरा रहता है। PAS तथा अन्य एंटी-गठिक्लेशिक दवाए कम असरदार होती हैं। एक्स-रे से विकिरणन वृका के गुल्मिक, पिटिकार्बी, मसेदार एव व्रणीय रूप से और श्लेष्मल झिल्लियो के तीव्र अतर्स्यदन में सुसंकेतित है। प्रकार-चिकित्सा (धूप या कार्बन-आर्क से युक्त लैप के प्रकाश का सेवन) बहुत कारगर होती है, लेकिन उन्ही लोगो के लिये प्रयुक्त हो सकती है, जिनके क्लोम (फुप्फुस; फेफडे) में गंठिक्लेशिक प्रक्रिया सक्रिय नही होती है। नमकहीन आहार सुसंकेतित है।

बाह्य चिकित्सा का उद्देश्य है ——— ऊतकों को नष्ट कर देना इसके

लिये 10-20 50 प्रतिशत गाढ़ पाइरोगैलोल-मलहम, 5 प्रतिशत गाढ़ आर्सेनिक-पेस्ट 30 प्रतिशत गाढ़ रेज़ॉर्सिनोल-पेस्ट, और इन [illegible] आदि का संयोग होता है। श्लेष्मला पर स्थित वृकार्बुदों को लैक्टिक अम्ल के 50 प्रतिशत गाढ़ घोल द्वारा या पिऑसिड द्वारा जला देते हैं। सीमित आक्रांति स्थान पर कभी-कभी व्रणकेंद्र का करोटिक विधि से दूर करके एक्स-रे से चिकित्सा करने का निर्देश दिया जा सकता है। कुटाली केसों में उपर्युक्त दवाओं तथा विकिरणी रश्मियों का मेल भी सुसंकेतित है। ऐसे रोगियों का इलाज और परीक्षण नियमित रूप से होना चाहिए।

भविष्यवाणी—सामान्य वृका लंबे समय तक बना रहता है। कुछ केसों में आक्रांति-केंद्रों में विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, चिकित्सा नहीं करने पर भी वे वर्षों तक ज्यों-के-त्यों बने रह सकते हैं। अन्य केसों में गदलोचनी प्रक्रिया नये-नये चर्म को ग्रस्त करते हुए बहुत मंद गति से प्रसारित होती है। ऐसा प्रसार सहवर्ती रोगों, प्रतिकूल जीवन-परिस्थितियों तथा अन्य घटकों से प्रोत्साहित होता है, जो शरीर के रक्षी बल को और उसकी प्रतिकारिता को क्षीण करते रहते हैं। यथासमय उठाये गये आवश्यक कदमों, विवेकसंगत चिकित्सा, कैलोरी समृद्ध आहार और उचित देखभाल से रोगी सामान्य जीवन में और काम पर लौट सकता है।

कंठमाल-चर्मता या संगलक चर्म-यक्ष्मा

कंठमाल-चर्मता चर्म-यक्ष्मा का बहुत ही सामान्य रूप है और लगभग सिर्फ बचपन और कैशोर्य में होता है। इसके दो रूप हैं—प्राथमिक कंठमाल-चर्मता, जिसमें क्षति किसी निश्चित चर्म-क्षेत्र में बनती है (रक्त द्वारा वहां यक्ष्माकारी बासिलों के पहुंचने से, ये अक्सर एकल एवं अलग-अलग आक्रांतियां होती हैं), और द्वितीयक कंठमाल-चर्मता (जो अधिक प्रायिक है), दूसरे रूप में पैठन यक्ष्माग्रस्त लसपर्वों से (और अपेक्षाकृत कम केसों में अस्थियों तथा अस्थि-संधियों से) सतत प्रसार द्वारा फैलता है।

रोग चर्म का अवचार्म वसा में अपेक्षाकृत कठोर, अंडाकार व गहराई पर बैठी गठिकाओं द्वारा लक्षित होता है। वे बैंगनी-लाल, पीडाहीन और हल्की-सी कोमल होती हैं। गठिकाएं बाद में मुलायम हो जाती हैं और आपस में संगम करने लगती है, गंठिकाओं का मुलायम जमघट बना लेती हैं, गलने लगती है, फिर विद्रधियों मे परिणत हो जाती है, जिनमें नासूर और व्रण विरचित होने लगते हैं। व्रण सतही होते हैं, इनकी आकृति अनियमित होती है, किनारियां मुलायम, चिकनी, नीली और सुरंगित होती है। वे दानों से तथा पनीरी अपघटन की टूटनों से आच्छादित होते हैं जब व्रण ठीक हो जाता है विशेष प्रकार से ऐंठे हुए अनियमित आकृति

के) सेतु-सदृश दाग रह जाते है, जिन पर बडे लोम होते है। ये शरीर को कुरूप करते है। कठमाल-चर्मता के प्रिय स्थल निम्न हैं—गले की पार्श्व सतहें, अवजभी एव अधिजंभी (जबडे के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र, कर्णशंख के गिर्द, अवजत्रुक एव अधिजत्रुक (हंसुली के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र और अस्थि-संधियो के गिर्द चर्म-क्षेत्र। कठमाल-चर्मता अक्सर अस्थियो, संधियों आखो और क्लोमो के गंठिक्लेश तथा चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपो (सामान्य वृका, मसेदार गठिक्लेश) के साथ-साथ ही होती है।

ऊतगदलोचन—पनीरी (छेने जैसा) अपघटन और बहुसख्य लसकोशिकाए गठिका के मध्य भाग मे पायी जाती है। विमृत क्षेत्र अंतर्स्यदन से घिरा होता है, जो लसकोशिकाओं, प्लाज्मा-कोशिकाओं से बनता है। अतर्स्यदन के क्षेत्र मे नवसर्जित रक्त और लसकुभिया अवरुद्ध अवस्था मे होती हैं (उस अंतर्स्यदन के क्षेत्र में, जिसका अभी अपघटन नहीं हुआ है)। मी-यक्ष्मा गदलोचनी प्रसाधनो मे कही अधिक प्रायिक रूप से मिलते है, बनिस्बत कि सामान्य वृका में।

निदान—कंठमाल-चर्मता का निदान तल्पिक लक्षणो और पिर्के-परीक्षण पर आधारित होता है (परीक्षण का परिणाम सुदम प्रक्रिया वाले बड़े बच्चो मे तीव्र धनात्मक होता है, लेकिन छोटे बच्चो में विरोधाभासी होता है)। रोग-वृत्त, तल्पिक, एक्स-रे तथा ऊतलोचनी परीक्षण भी ध्यान में रखे जाते है।

विभेदक निदान मुख्यतः सीफिलिसी रालार्ब, अशुकवकता के रालार्बिक पर्विकीय रूप, चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता और बाजिन-रोग के साथ किया जाता है। सीफिलिसी रालार्ब मे सिर्फ केंद्रीय अपघटन होता है और वहा क्रेटर जैसा व्रण बन जाता है, जो कठोर अंतर्स्यदन की एक परिमा (rim) से घिरा होता है, सीरमलोचनी परीक्षण का परिणाम अक्सर धनात्मक होता है और बिओक्वीनोल से आजमाइशी चिकित्सा करने पर रालार्ब अपचोषित हो जाता है। रालार्बिक-पर्विकीय अशुकवकता (गरदन पर या अवजंभी क्षेत्र पर) अपेक्षाकृत कठोर, वृहत, अर्ध गोलाकार पर्वो के विरचन द्वारा लछित होती है। वे एक अतर्स्यद के रूप में सगम कर जाते है, जो काठ की तरह कठोर होता है; इसके केंद्र मे नासूर के मुहाने के साथ-साथ मुलायमियत विकसित होती है। इसमे से पीले पनीरी दानो (ड्रूजेन) से मिश्रित पूय स्रावित होता है।

चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता नियमतः वयस्कों को होती है और बहुरूप सतही व गहरे चर्मपूयसो द्वारा लंछित होती है, जिनमे लसपर्वो के पडोस मे (निकट) विरचित होने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती; व्रण के गिर्द शोथी प्रतिक्रिया होती है। बाजिन-रोग को कठमालचर्मता से तभी विभेदित करना पडता है, जब वह पिडलियों पर स्थित होता है बाजिन की कठललामी मे क्षतियां सममित रूप से

व्यवस्थित होती हैं, पीडिकाएं उभरी हुई नहीं होतीं (सिफक गोरम विनाशी अतस्यदन होता है; व्रणन की कम प्रवृत्ति होती है, यह रोग विशेषकर लड़कियों का यौन-परिपक्वता की अवधि में होता है)।

चिकित्सा—निम्न दवाएं परिलिखित होती है- फ्थीवाजीड (कुल खुराक 100-200 ग्राम) तथा इजोनीकोटिनिक अम्ल हिड्राजीन (हाइड्राजाइड) के अन्य प्रसाधन (इजोनिकाजिड, सालूजिड) दैनिक खुराक 0 75-1 0 ग्राम; स्ट्रेप्टोमीसिन नित्य 1 0 ग्राम (कुल खुराक 100 ग्राम तक), सोडियम-पैरा अमीनोसालीसीलेट (सोडियम-PAS, 'वेपास') नित्य 8 0-12 0 ग्राम (कुल खुराक 600 800 ग्राम), फीटिन और फोस्फ्रेन। सूर्य-चिकित्सा और परावैगनी विकिरण भी कारगर उपाय है। कुछ केसो मे करोर्जन की सहायता ली जाती है। बाह्य चिकित्सा मे निम्न प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं—एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट और पोटाशियम परमैगनेट के लोशन, 10 प्रतिशत सांद्र आयोडोफोर्म-इमल्शन नासुर मे सुई द्वारा आधानित होता है।

भविष्यवाणी—रोग का चिरकालिक प्रवाह महीनो और वर्षो तक चलता रहता है, बीच-बीच में कभी-कभी कुछ समय के लिए उपशमित भी होता है। हल्के केस आधुनिक रीतियों से सफलतापूर्वक ठीक हो जाते हैं। व्रणन-प्रक्रिया के बहुत आगे बढ जाने पर भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है।

मसेदार चर्म-यक्ष्मा

रोग अधिकाशत. वयस्को को होता है और उनमें भी ज्यादातर पुरुषो को, लेकिन रोगियो की कुल सख्या सामान्य वृका के रोगियों की संख्या से आधी होती है। मसेदार यक्ष्मा ज्यादातर उन लोगो को होता है, जो आदमी और जतु के मृत अगो मे उपस्थित गंठिक्लेशिक द्रव्य के संपर्क मे अपनी वृत्ति (जीविका) के कारण आते है (जैसे जतु-करोर्जक, गदलोचक, कसाई, बूचड़खाने के कर्मी आदि को)। ये लोग भी अक्सर ग्रस्त हो जाते हैं, जिन्हे यक्ष्मा के सक्रिय रूप से पीडित लोगो की देखभाल करनी पडती है (जैसे आयुर-कर्मी)। इन स्थितियो मे रोग अतिपैठन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। क्लोम, आत आदि के यक्ष्मा के खुले रूपों से ग्रस्त रोगियो मे मसेदार यक्ष्मा स्व-आधान के फलस्वरूप विकसित हो जाता है।

क्षतिया अक्सर हथेली के पीछे और उगलियो पर स्थानाबद्ध होती है, गोड पर अपेक्षाकृत विरले ही होती है। पहले मटर के दाने जितने बडी, कठोर, नीली-लाल गठिका उत्पन्न होती है (शवगठिक)। यह एक चौरस कठोर पैबद मे परिणत होता जाता है, जिसकी सतह पर मसे बनते है और बडी-बडी शृंगी परते बैठती है। मसेदार यक्ष्मा के विकसित अधिकेंद्र में तीन कटिबंध होते है—परिसरीय

ामा), मध्य (कठोर कीलक-सदृश उभार, विदार तथा खड्डिया) औ
रूप गटिकीय सतह से युक्त कुपोषित चर्म-क्षेत्र)। अपचोषण व
र क्षतांकित होते है। क्षेत्रीय लसकुभिया और लसपर्व भी अक्स
पेट मे आ जाते है। जब (मास) कीलक जैसी विरचना को दबाय
ो की तरफ से पूय की बूदे निकल आती है, यह उप-अधिचार्म सूक्ष्
ा है। मुख्य अधिकेंद्र के परिसर पर नयी पविकाए और नये 'पैबद
ने हैं, जो बाद मे सगम कर जाते है।

के अपचोषण के बाद कुपोषज क्षतांक रह जाते हैं; सामान्य वृका व
स्थलों पर नयी क्षतियां नहीं उत्पन्न होती है। रोगी की सामान्
र सतोषप्रद होती है। टुबेरक्यूलिन-परीक्षण के परिणाम 80 से 96 '
ो में धनात्मक होते है।

ोचन—कटलयक्लेश, अतिशृंगनता और पिटिकार्बक्लेश पाये जात
के नीचे बहुरूप-नाभिकीय श्वेतकोशिकाओं और लसकोशिकाओं से
भी अंतर्स्यदन दिखाई देता है। अधिचर्म की कांटल परत मे यत्र-तत्र
ा भी मिलती है। हल्की पनीरी (छेने जैसी) विमृति वाली विशिष्
तर सुचर्म के मध्य भाग मे अवस्थित रहती हैं। कुछ केसो म



मसदार चर्म-यक्ष्मा

[illegible] शाखा [illegible] हो जाती है। [illegible] को [illegible] में भी [illegible] अधिक अक्सर और अधिक संख्या में मिलते हैं, [illegible] कि [illegible] युक्त में।

निदान के आधार निम्न हैं - [illegible] चिह्न (ओपरेंड के [illegible] पर बैगनी-लाल सीमा और उसके नीचे कोशिकाओं की उपस्थिति), पीक [illegible] का [illegible], ऊतलोचनी परीक्षणों के परिणाम, ट्यूबरक्युलिन-परीक्षण के धनात्मक परिणाम, गिनिपिग में ऊतक-द्रव आधान करने के परिणाम। पनपू चमपुमला में (इसके विपरीत) स्पष्ट शोथ और प्रचुर पूय-स्राव होता है (जब 'पनद' को किनारियों पर दबाया जाता है)। अंकुरी कवकता, वर्णकवकता और स्पोरज लोमकूपशोथ में मुलायम रिसालु अंतर्स्यंदन होता है, जिससे विशिष्ट प्रकार का स्राव निकलता है। इन चिरकालिक कवकताओं के निदान की पुष्टि बाक्तेरिओस्कोपी और ऊतलोचनी परीक्षण से हो जाती है। कटकोशिकीय कर्कार्बुद प्राकृतिक छिद्रों (मुहानों) के पड़ोस में समामित रूप से अवस्थित होता है और कम समय में ही व्रणित होने लगता है।

चिकित्सा—गठिक्लेशिक (याक्ष्मिक) चर्म-क्षतियों के लिये प्रयुक्त सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त तीक्ष्ण खोलनी से खुरचन, पारतापीय स्कंदन और एक्स-रे-चिकित्सा का भी उपयोग होता है।

भविष्यवाणी—अक्सर अनुकूल होती है, यद्यपि रोग प्रलक्षित चिरकालिक प्रवाह भी ग्रहण कर सकता है।

चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों का व्रणित यक्ष्मा

इस रोग को वर्जरिक व्रणित यक्ष्मा भी कहते है। अन्य नाम भी है--द्वितीयक याक्ष्मिक (गठिक्लेशिक) व्रण, मुहानो का चर्म-गठिक्लेश। चर्म-यक्ष्मा का यह विरल रूप आंतर अंगों (क्लोमों, कंठ, आंत, गुर्दो) के यक्ष्मा से पीड़ित रोगियो में पाया जाता है और उनमे यह रोग स्व-आधान के सहारे उत्पन्न होता है। क्षतियां अक्सर प्राकृतिक छिद्रों (मुहानों) के समीप उत्पन्न होती हैं, जहां चर्म सतत रूप से श्लेष्मल झिल्ली में सक्रमण कर जाता है (प्राकृतिक छिद्र है--मुह, नाक, पृष्ठद्वार, लिगपूग)। मी-यक्ष्मा रोगी के थूक तथा मूत्र के साथ निकलते हैं और चर्म या श्लेष्मल झिल्लियो मे आरोपित हो जाते है।

पिन के सिर जैसी छोटी पीताभ-लाल पर्विकाएं अक्सर अप्रेक्षित रह जाती हैं, क्योकि वे तेजी से पिपिकाओ में परिणत हो जाती हैं, जो खुलकर सगम कर जाती है और बड़े-बड़े व्रण बना लेती है। व्रणो की किनारिया मुलायम, हल्की लाल, सीप की तरह वक्र (शुक्तिक) और सुरंगित होती है; तली असमतल दानेदार होती है, कणीकरण अल्प और भूरा होता है। तली से अक्सर रक्त रिसता है और वह अपूर्ण पुय-सीरमी झिल्ली से ढकी रहती है। पीली गठिक्लेशिक गंठिकाओं के पनीरी

अपघटन से व्रण की तली और उसके गिर्द छेने जैसे कण जमा हो जाते है (ट्रेलाट के कण)। आक्रांति के अधिकेंद्रो के गहरे होने और उनके विसर्पी प्रसारण के लिए जिम्मेदार ये ही कण है। व्रण बहुत ही कोमल होते हैं, जिससे खाना (यदि प्रक्रिया मुह मे अवस्थित है) और मल-विसर्जन (यदि क्षति पृष्ठद्वार के क्षेत्र में है) कठिन हो जाता है।

बार्क्तरिओस्कोपिक विश्लेषण से ढेर सारे मीकोबाक्तेरी मिलते हैं। इन रोगियो मे ट्बरक्यूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होता है, क्योकि इम्यूनोजनन भयानक रूप से निढाल हो जाता है और अनूर्जिता की अवस्था आ जाती है।

ऊतगदलोचन—ऊतलोचनी चित्र अविशिष्ट शोथी अतर्स्यदन द्वारा लछित होता है, जिसमे मीकोबाक्तेरी अनुवेदित होते है।

निदान के आधार निम्न है—तल्पिक चित्र, आतर अगो मे सक्रिय यक्ष्मा और ट्रेलाट (Trelat) के कणों की उपस्थिति और सूक्ष्मदर्शन से मीकोबाक्तेरियों का अनुवेदन। कुछ स्थितियो में चर्म के व्रणित यक्ष्मा को पहचानने में किसी अंग मे यक्ष्मा का ज्ञात होना भी सहायक सिद्ध होता है।

द्वितीयक सीफिलिस के व्रणित सीफिलड के साथ विभेदक निदान मे इसकी क्षतियो की तली और किनारियो की कठोरता, स्राव में त्रेपोनेमा पालीडुम के अनुवेदन, द्वितीयक अवधि के अन्य लक्षणो और रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणामो को ध्यान में रखा जाता है। तृतीयक सीफिलिस की गठिकाए गहरे व्रण बनाती हैं, जिनकी आकृति सही गोल होती है, किनारी रिम की तरह कठोर उभरी होती है; ये व्रण लंछक रूप से पीड़ाहीन होते हैं। सामान्य वृका के व्रणित रूप मे 'सीक' और 'सेब की जेली' के लक्षण देने वाले लछक वृकार्ब व्रणित-सतह के परिसर पर उत्पन्न होते है। ट्यूबेरकूलिन परीक्षण के धनात्मक परिणाम को और इस बात को कि रोगी अपने को काफी अच्छा महसूस करता है, ध्यान मे रखना चाहिए। कठव्रण-सदृश व्रणों के साथ-साथ तीव्र शोथ, प्रचुर पूय-स्राव, परिसर मे सतान-क्षतियो (daughter lesions) और कठव्रण की गिल्टी की अक्सर उपस्थिति भी प्रेक्षित होती है। प्रयोगशाला के अध्ययन से डुक्रे-उन्ना-पीटर्सन के स्त्रेप्तो-बासिल मिलते है। उपकलार्ब के विभेदक लक्षण हैं—व्रणों की किनारियो का मोटा होना, व्रणो के परिसर मे भूराभ 'मोतियो' की उपस्थिति, तलपर्वो मे डिस्क (चकती) की तरह कठोरता।

चिकित्सा—थेरापिक युक्तियों का उद्देश्य है सामान्य यक्ष्मा से सघर्ष। स्थानिक एक्स-रे-चिकित्सा अपनायी जाती है—रोगी को सात दिनो के अंतराल पर दो बार 200-250r (रेंटगेन) से विकिरणित किया जाता है (चर्म और नाभि या फोकस की दूरी 30 सेंटीमीटर, वोल्टता 120 किलोवोल्ट, धारा की तीव्रता ३ मिलीएंपियर, फिल्टर 3 मिलीमीटर अलुमीनियम का)। व्रणों को पहले पिओसिड से

ससाधित करने के बाद [illegible] अम्ल से [illegible] ([illegible]) भी जा सकता है। कभी-कभी क्षतियों को कर्गेजिक विधियों से भी दूर किया जा सकता है।

भविष्यवाणी आन्तर अंगों के यक्ष्मा के प्रवाह पर निर्भर करती है। सामान्य यक्ष्मा की चिकित्सा मे सफलता मिलने के साथ-साथ त्वग्गत यक्ष्मा की भविष्यवाणी मे भी सुधार हुआ है, इसके दर्ज केसों की सख्या दिनों-दिन घटती ही जा रही है।

बाजिन का रोग (कठललामी)

बाजिन का रोग अक्सर 16 से 40 वर्ष की स्त्रियों को होता है (और इनमें भी मुख्यतः युवतियो को), जिनमे से अधिकाश किसी-न-किसी अन्य प्रकार के यक्ष्मा से ग्रस्त होती हैं। रोग के अभिव्यक्त होने में संप्रेरक घटक निम्न हैं—यक्ष्मा के साथ-साथ रक्त-सचार की गडबडिया (नीलपर्यंगता, शिरा-विस्फारण), पैरों का अक्सर ठंडा होना, ऐसी वृत्ति होना, जिसमें रोगी को खड़े-खड़े काम करना पडता है आदि। पुनरावर्तन शरद तथा शीतऋतु में विकसित हो सकता है।

कठललामी की तल्पिक अभिव्यक्तियां है—गहराई मे स्थित कठोर तथा धीरे-धीरे बढने वाले पर्व (नोड्स) या नीलाभ लाल रंग के विस्तृत चोरस अतर्स्यदन, जिनका आकार बादाम से लेकर टमाटर के बराबर तक हो सकता है। पर्व (दो-चार से लेकर दस या इससे भी अधिक बडी संख्या में) चर्म तथा अवचार्म वसा की गहराई मे स्थित होते है और छूने मे कुछ मुलायम-से लगते है। ये मुख्यत' गोडो पर (और अपेक्षाकृत कम प्रायिकता के साथ जांघों, नितबो और हाथ पर) सममित रूप से उत्पन्न होते है। मुख और नासा-ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्लिया विरले ही ग्रस्त होती हैं। कुछ सप्ताहो या महीनो में महत्तम विकास को प्राप्त होकर पर्व घटने लगते है और उनके बाद वलयाकार कुपोषित स्थल तथा वर्णकता रह जाती है। कुछ केसों मे अधिकेंद्रो का मध्य मे गलन शुरू हो जाता है, वे सगम करते हैं और नासूरयुक्त पीडाहीन व्रण बनाते है जिनकी किनारिया सुरगित होती है और तली गदले-भूरे दानो से ढकी होती है, इस अवस्था को व्रणित कठललामी का हचिंसन-रूप (Hutchinson`s form) कहते है। व्रणो के ठीक हो जाने पर ऐंठे हुए-से वर्णकित क्षतांक रह जाते हैं।

चिकित्सा न कराने पर रोग महीनो और वर्षो तक बना रह सकता है और ठड के मौसम मे पुनरावर्तित होता रहता है। पर्व लसकुंभिशोथ से क्लिष्ट भी हो सकता है, जो कुंभी-पथ के सहारे-सहारे फैलने लगता है। चर्म की कठललामी स्पष्ट वर्धित इमूनता की स्थिति में शोथ के एक अत्यूर्जकि रूप की तरह विकसित होती है, इसीलिये करीब 60-70 प्रतिशत रोगियो मे ट्यूबरकूलिन-परीक्षण धनात्मक होता है

ऊतगदलोचन--पर्वो की एक विशिष्ट गठिवन (ट्यूबरकुलोइड) सरचना होती है (उपकलावत और विशाल कोशिकाए)। कुछ स्थलो पर अतर्स्यदन अविशिष्ट होता है (लसकोशिकाए और प्लाज्मा-कोशिकाए)। गठिवत अधिकेद्र लगभग हमेशा ही अतर्स्यदन की किनारी पर पाये जाते है, जो सुचर्म के निचले भाग और अवचार्म वसा में स्थित होते है। अंतर्स्यदन के केद्र मे कमोवेश रूप से स्पष्ट पनीरी विमृति दिखाई देती है। बहुलन (कोशिकाओ की नव-विरचना) से सबधित परिवर्तन, स्कदक्लेश, कुभियो (विशेषकर शिराओ) मे रोध भी देखे जाते है, जिससे विमृति और व्रणन शुरू हो जाता है। अतर्स्यदन के गिर्द अवचार्म वसा कुपोषित होने लगती है।

निदान तल्पिक एवं ऊतलोचनी अध्ययन के परिणामों पर आधारित होता है। पार्विक ललामी और पिडलियों की कंठमाल-चर्मता के साथ विभेदक निदान सबसे कठिन होता है। पार्विक ललामी मे तीव्र शोथ, ज्वर और कमजोरी होती हे; क्षतिया पिडलियों की अग्र सतह पर उत्पन्न होती है और उनमें प्रायिक पुनरावर्तन, अपघटन या व्रणन की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, शरीर मे गठिक्लेश का कोई अधिकेंद्र नही मिलता, पिर्के की जांच ऋणात्मक होती है। तल्पिकत जटिल केसो मे विशिष्ट चिकित्सा की कारगरता को भी ध्यान मे रखा जाता है। कंठमाल-चर्मता मुलायम पर्विकाओ, व्रणित क्षेत्रो की मुलायम तली, व्रणो की कटी-फटी किनारियो और नासूरो द्वारा लछित होती है। रालार्बिक सीफिलिड मे कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती, ग्रस्त क्षेत्र एक विशेष प्रकार की कठोरता से लछित होते है, उनका रग भूरा लाल होता है; सीफिलिसी पैठन के अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं।

चिकित्सा--यक्ष्मा की चिकित्सा आवश्यक है। पराबैगनी विकिरण, धूप-सेवन और विटामिनों व प्रोटीनो से समृद्ध आहार सुसकेतित है। व्रणो का उपचार जिंक-जिलेटिन पट्टियो से होता है। जिक आक्साइड और जिलेटिन का मिश्रण (aa25g) ग्लीसेरिन (60g) और पानी (120g) गर्म करके पट्टी पर पसार दिया जाता है और पैर को इसी पट्टी से कसकर बाध दिया जाता है (व्रण को पहले से एक निष्कीटित गजी से ढंककर रखना चाहिए)।

पुनरावर्तन के **निरोध** के लिये निम्न उपाय है--कुभिक गडबडियों (स्कद-शिराशोथ) की चिकित्सा, पैरो को ठड नहीं लगने देना, अगो (हाथ-पैर) को अत्यधिक थकान से बचाना।

प्रकीर्णित रूप

शैवाकवत गठिक्लेश या कंठमालीय शैवाक

शैवाकवत यक्ष्मा अक्सर उन बच्चो को होता है, जिनमें बहुत कमजोरी होती

हे और तदनुरूप शारीरिक प्रवणता होती ह, जो क्लोम, लसपर्वो या अस्थि न सधियो के यक्ष्मा से ग्रस्त होते हैं। यह सामान्य वृक्का की सक्रिय चिकित्सा म बासिली अपघटन के उत्पादो के प्रकीर्णन के फलस्वरूप भी विकसित हो सकता है।

चर्म-क्षतियां प्रकीर्णित या ग्रुपों मे होती है; वे छोटी (जई के दानों जितनी बडी), चौरस या शंक्वाकार, पीड़ाहीन पिटिकीय, पिटिका-पीपिकीय या मुहास जसी पर्विकाओ के रूप मे होती है, जिनका रग भूराभ लाल या ज्यादातर सामान्य त्वचा जैसा ही होता है। पविकाओ की सतह पर नन्हे शल्क या शृगी नोकें मिल सकती है। निकट-निकट स्थित मशिकीय पर्विकाओ वपास्रावी दिनाई (कंठमालीय दिनाई) से मिलती-जुलती हो सकती है। स्फोट अधिकाशतः सममित होते हैं और धड़ की पार्श्व सतहों, नितबो, चेहरे और विरल केसो में होंठों की श्लेष्मल झिल्लियों पर अवस्थित होते हैं। क्षतियां स्वत-स्फूर्त रूप से गायब हो जाती हैं, पर बाद में फिर उत्पन्न हो जाती है। कोई आत्मगत अनुभूति नियमतः नही होती। आतर अगो के यक्ष्मा का इलाज हो जाने पर चार्म पुनरावर्तन नहीं होता। अपचोषित पिटिकाओ की जगह हल्की वर्णकता (या और भी विरल रूप से—नन्हे चित्तीदार दाग) बन जाती है। पिर्के-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है। कठमालीय शैवाक अब एक बहुत ही विरल रोग हो गया है।

ऊतगदलोचन—उपकलावत एवं विशाल कोशिकाओ का विशिष्ट अंतर्स्यदन मशिकाओ के गिर्द पाया जाता है। पनीरी (छेने जैसी) विमृति नही होती।

निदान जटिल नही होता और इसकी पुष्टि हर हालत मे धनात्मक पिर्के-परीक्षण से हो जाती है। स्फोटो को सीफिलिसी स्फोट से विभेदित करना चाहिए, जिसमे पिटिकाए एक अधिकेद्र मे भिन्न विकास-चरणो पर होती हैं और उनके साथ-साथ सीफिलिस के अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते है; सीरमलोचनी परीक्षण धनात्मक होता है। लाल काटल शैवाक मे पिटिकाएं किरमिजी लाल होती है, कुछ की परिरेखाएं लछक रूप से बहुभुजी होती है, केद्र मे एक अवनमन-सा होता है; स्फोट के साथ-साथ खुजली भी होती है।

चिकित्सा उन्हीं उपायों से होती है, जो चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपो के लिये प्रयुक्त होते है। शल्कन को प्रेरित करने वाले मलहम बाह्य चिकित्सा के रूप मे सुसकेतित है।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा

यह रोग अक्सर बचपन या कैशोर्य मे होता है· स्फोट हाथ-पैर की ऋजुकारी

सतहों पर धड़ और चेहरे पर उत्पन्न होते है। मुख्य रूपलोचनी क्षतिया असख्य (कमोबेश रूप से जमघटों में) कठोर भूराभ बेगनी पर्विकाएं है, जिनका आकार हंप के बीज के बराबर होता है। उनके केंद्रों पर पूय जैसी विमृतिक खड्डिया पड़ जाती है। बाद में पिटिकाओं पर नन्हे, गोल सतही व्रण बन जाते हैं, जिनके ठीक होने पर मुहर जैसे दाग रह जाते है, इनकी सीमारेखाएं बैगनी होती है। अधिकेंद्र के विकास और दाग (क्षताक) बनने में चार से आठ सप्ताह लगते है। स्फोट एकबारगी से नहीं निकलने, इसलिये एक साथ भिन्न विकास चरण पर स्थित क्षतिया देखी जा सकती है। रोग वसत ऋतु के आरभ मे और शीतकाल मे पुनरावर्तित होता रहता है, लेकिन गर्मियो मे कभी भी व्यक्त नही होता। पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा अक्सर उन लोगो को होती है, जो लसपर्वो, अस्थियो या सधियों के यक्ष्मा से पीडित होते हें या कठललामी के शिकार होते है। टूबेरकूलिन-परीक्षण नियमतः धनात्मक होता है।

पिटिका-विमृतिक यक्ष्मा के निम्न रूप हैं—(1) आक्नित ('ऐक्नाइटिस' का लातीनी उच्चारण, कारक-चिह्न '-इस' को छोड़कर), यह एक प्रकार की पीपिकाएं हे, जो स्कूली बच्चो की, यौन परिपक्वता के समय या इसके पूर्व होती है। ये सामान्य मुहासों से मिलती-जुलती होती हैं। क्षतिया सममित रूप से चेहरे पर होती है और बिरलत वक्ष पर तथा हाथो की ऋजुकारी सतहों पर भी होती है; इनके ठीक होने पर गहरे दाग रह जाते हैं; (2) फोलीक्लिस किशोरो एव नवयुवकों को धड एव पैरो की मशिकाओं (लोमकपूो) की क्षतियो के रूप में होती है; (3) एक्ने काखेक्तीकोरूम पिटिकीय पीपिकाओं के स्फोट हैं, जिनमें क्रेटर जैसे व्रण बनते है और उनके बाद चेचक जैसे दाग रह जाते है। रोग के इस रूप मे टूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होते हैं क्योंकि शरीर की इमूनलोचनी प्रतिकारिता कम होती है।

ऊतगदलोचन—क्षति का उपादान सतही अधिचार्म व सुचार्म विमृति है, जो लसवत अंतर्स्यदन से घिरा होता है। कुंभियो का शोथी अतर्स्यदन पाया जाना विशेष लंछक है।

निदान—नन्हे, विशेषकर मुहर जैसे दाग (क्षताक), क्षतियो का स्थल, टूबेरकूलिन-परीक्षण तथा ऊतलोचनी परीक्षण निदान मे सहायक होते हैं। वपाल मुहासे से विभेदित करने में ध्यान रखना चाहिए कि यह रोग (वपाल मुंहासा) उन्ही को होता है, जिन्हें काम पर (वृत्ति मे) अक्सर तेलो तथा इमल्शनो के सपर्क में रहना पडता है। मुंहासे के इस रूप में क्षतियां अक्सर हाथ और पैर की ऋजुकारी सतहो पर होती हैं वे मशिकाशोथ के रूप मे प्रकट होती है, शोथ की प्रक्रिया तीव्र होती है, साथ मे ढेर सारे कोमेडोन (काले मुहासे) भी निकल आते है।

चिकित्सा -PAS फ्थीवाजिड विटामिन A और D फीटिन तथा लौह

प्रसाधन मुखमार्ग से दिये जाते है। यदि प्रतिनिर्दिष्ट न हो तो परावैगनी विकिरण भी दिया जा सकता है।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है, यदि आतर अगो का कोई तीव्र यक्ष्मा नहीं होता।

बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा

बच्चो मे चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के मुख्य सिद्धांत वे ही है, जो वयस्कों के लिये हैं। प्राथमिक महत्त्व सामान्य चिकित्सा को ही दी जाती है, जिसका लक्ष्य है—आतर अगो के यक्ष्मा को दूर करना, चर्म मे गदलोचनी प्रक्रियाओं के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटको को दूर करना और रोगी की सामान्य अवस्था सुधारना, ताकि याक्ष्मिक पैठन के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता बढ़ सके।

बच्चो मे चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा स्त्रेप्तोमीसिन से होती है, जिसे स्त्रेप्तोमीसिन सल्फेट और पाटोमीसिन (डीहाइड्रोस्ट्रेप्टोमीसिन के पाटोथेनिक लवण) के रूप मे दिया जाता है। पाटोथेनिक अम्ल, जो पाटोमीसिन का एक अवयव है, स्त्रेप्तोमीसिन के गरलकारी परोर्जिक प्रभाव का उपशमन करता है। बच्चों को स्त्रेप्तोमीसिन अतपेशीय सुई के रूप मे नित्य दो बार दिया जाता है, दैनिक खुराक 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये 0.01-0.02 ग्राम प्रति किलोग्राम है, 5 से 8 वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के लिये 0 25-0 3 ग्राम और 8 से 14 वर्ष के बीच के लिये 0 3-0 5 ग्राम है। कुल खुराक 20 से 40 ग्राम है। स्त्रेप्तोमीसिन से सामान्य वृका, कठमाल-चर्मता और व्रणित एव मसेदार गठिक्लेशों से सबसे अच्छे थेरापिक परिणाम प्राप्त होते है।

स्त्रेप्तोमीसिन के बाद या इसके साथ-साथ फ्थीवाजिड, टूबाजिड, मेटाजामीड, तथा इजोनीकोटीनिक अम्ल हाइड्राजीड के अन्य उत्पाद भी दिये जाते है—उन मीकोबाक्तेरियो के विरुद्ध, जो स्त्रेप्तोमीसिन का प्रतिरोध कर लेते है (उसे सहन कर लेते है)। फ्थीवाजीन की दैनिक खुराक निम्न है—12 महीने तक के बच्चे के लिये 0 02-0 03 ग्राम प्रति किलोग्राम (तीन बार में), 2 से 3 वर्ष के बच्चे के लिये 0.3-0.5 ग्राम (तीन बार मे); 3 से 7 वर्ष के लिये 0 6-0 7 ग्राम और 8 से 15 वर्ष के लिये 0.5 से 1 0 ग्राम। कुल खुराक 40 से 250 ग्राम तक हो सकती है। चिकित्सा के एक दौर में स्त्रेप्तोमीसिन और फ्थीवाजिड की कुल खुराक और दौरो की संख्या रोग-प्रक्रिया की तीव्रता और दवा के प्रति सहनशीलता पर निर्भर करती है।

3 वर्ष के कम बच्चों के लिये PAS का सोडियम लवण 0 15-0 2g/kg प्रतिदिन की खुराको मे प्रलिखित किया जाता है इसे तीन या चार बार मे देते है

3 से 5 वर्ष के बच्चों का प्रतिदिन 0 5 ग्राम चार बार में दिया जाता है। 5 वर्ष से अधिक के बच्च के लिये दैनिक खुराक 6-8 ग्राम है। कुल खुराक 200 से 400 ग्राम तक होती है। दवाखाना खाने के एक घंटे बाद दूध, क्षारीय खनिज जल या सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के 2 प्रतिशत सांद्र घोल के साथ ली जाती है।

विटामिन D, सामान्य वृका के उन्ही रोगियो की चिकित्सा मे प्रयुक्त होता है, जिनके आंतर अगो में कोई सक्रिय याक्ष्मिक प्रक्रिया नही होती, क्योंकि यह स्थापित हुआ है कि यह विटामिन क्लोमो (फेफड़ों), लसपर्वो तथा अस्थियो मे रोग-प्रक्रिया को और भी तीव्र कर देता है। इसका उपयोग सामान्य वृका के व्रणित रूपो मे और पुनरावर्तन-निरोध में सबसे अधिक वाछनीय है। 10 वर्ष तक के बच्चों को इसकी 15000-25000U की खुराक नित्य दो या तीन बार मे दी जाती है; 11 से 16 वर्ष के बच्चो को 30000-50000U नित्य दो या तीन बार मे दी जाती है।

बच्चो के चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के समय उनके आहार मे नमक नहीं देना चाहिए (विशेषकर यदि रोग व्रणित रूप में है), लेकिन साथ में प्रोटीन और विटामिन (ऐस्कोर्बिक अम्ल, रूटिन, कैल्सियम पाटोथेनाट आदि) प्रचुर मात्रा में देने चाहिए।

धूप और पराबैगनी विकिरण का सेवन बच्चों तथा बडो दोनों ही के लिये वाछनीय, विशेषकर गर्म एव शुष्क जलवायु वाले इलाके में स्थित निरोगालयो मे, लेकिन याक्ष्मिक अधिकेंद्रो के रूप तथा उनकी सक्रियता और रोगी की सामान्य अवस्था पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इस तरह की चिकित्सा उपशमन-काल मे विशेष तौर पर उपयुक्त होती है।

चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण का संगठन

चर्म-यक्ष्मा के प्रसार पर नियंत्रण के उपाय वैसे ही है, जैसे आंतर अगो के यक्ष्मा मे। सामान्य यक्ष्मा और विशेष (चर्म-) यक्ष्मा के निरोध में सामाजिक कदमो का महत्त्व बहुत अधिक है, जैसे—श्रम-सुरक्षा से सबंधित कानून, लोगो का जीवन-स्तर और सास्कृतिक स्तर ऊंचा करना, बच्चों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सगठित युक्तिया अपनाना आदि। यक्ष्मा के प्रारंभिक रूपो का अनुवेदन और उनकी यथासमय युक्तिसगत चिकित्सा भी निरोधात्मक प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण कडियां है। यक्ष्मा के रोगियों को पर्याप्त समय तक खुली हवा मे रहना चाहिए, कार्य-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश होना चाहिए। सोवियत संघ में यक्ष्मा के नियत्रण मे, रोगियों को दर्ज करने, उन पर निगरानी रखने और उनकी चिकित्सा करने में अन्य निरोधात्मक कार्य करने मे यहां की प्रतियक्ष्मा आरोग्यशालाओ की भूमिका प्रमुख

है

सोवियत-काल में यक्ष्मा पर नियन्त्रण के लिए सुनियोजन और सुसंगठित प्रयत्नों से यहां यक्ष्मा और विशेषकर चर्म-यक्ष्मा की प्रायिकता में तेजी से ह्रास हुआ है। बच्चों में चर्म-यक्ष्मा का प्रारंभिक चरण में ही अनुवेदन और इसकी यथाशीघ्र युक्तिसंगत चिकित्सा भी यक्ष्मा के इस रूप की प्रायिकता में कमी लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

चार्म लेइशमैनता या बोरोव्स्की रोग

इस रोग के अन्य पर्याय भी है—पेंडह-क्लेश, आश्खाबाद-क्लेश, 'गोदोविक' (रूसी नाम, जिसका अर्थ है—'वत्सरिका'), पूर्वी रोग आदि। यह एक जानपदिक (किसी विशेष जनपद के लिये लाक्षणिक), चिरकालिक परजीविका चर्म-रोग है। इसका निमित्त कारण पी॰ बोरोव्स्की ने १८९८ में ज्ञात किया था और उसका वर्णन प्रस्तुत किया था। यह रोग उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधों मे पाया जाता है। सोवियत सघ मे इसके प्रसार-केंद्र मध्य एशिया (मुख्यतः आश्खाबाद के क्षेत्र, बुखारा, समरकंद, कोकाद आदि) और काकेशिया-पार के गणतंत्र (मुख्यत' अजरबैजान के दक्षिणी इलाके) है। अन्य देशो से यह रोग अर्जित करने वाले रोगी पूरे सोवियत सघ के क्षेत्र में मिल सकते हैं।

हेतुलोचन और बहुमारीलोचन—लेइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिआ ट्रोपिका एक सूक्ष्म प्राग्जंतु है। इस जीवाणु को दिखाने के लिए पर्विका या लेइशमैनार्ब के परिसरीय अतर्स्यंद को दो उगलियों से दबाकर वहां का स्थल रक्तहीन कर दिया जाता है, फिर स्काल्पेल से वहां चर्म में हल्का-सा चीरा लगाया जाता है। चीरा की किनारी से ऊतक के टुकड़े और ऊतक-द्रव स्काल्पेल से खुरच कर अलग करते है। इस द्रव्य का लेप (कांच के स्लाइड पर) तैयार किया जाता है और उसे रोमानोव्स्की-गिम्ज़ा के रजक से रजित किया जाता है। ये जीवाणु (बोरोव्स्की-काय) अंडाकार होते हैं, इनकी लबाई 2-5 मिक्रोमीटर और चौडाई 1 5 से 4 मिक्रोमीटर तक होती है। इसके प्रोटोप्लाज्म मे दो नाभिक होते है—एक बडे-से अडे जैसा दिखता है और दूसरा सहायक नाभिक छड़ की तरह दिखता है (ब्लेफारोप्लास्ट)। लेप में लेइशमानिआ जीवाणु के प्रोटोप्लाज्म हल्के नीले रग से रजित होते हैं, बडा नाभिक लाल या ललछौह बैगनी रंग से और छोटा नाभिक गाढे बैगनी रंग से रजित होता है। ये परजीवी माक्रोफागो मे बहुत बडी संख्या मे, रक्त मे स्वतत्र ग्रुपो के रूप मे और चर्म-क्षतियो में पाये जाते है।

आदमियों मे रोग का सक्रमण फ्लेबोटोमस बालुका-मक्खी (एक तरह के मच्छरो) के काटने से होता है। बालुका-मक्खिया ये परजीवी किसी बीमार व्यक्ति

म प्राप्त करती है; गावो में होने वाली लेइशमैनता के लिये कृतक (कुतरने वाले) जीव (जैसे सूस्लिक, जेबिल्ल) आदि भी पैठन के स्रोत हो सकते हैं। तल्पिक चित्र, निमित्त कारण के जीवलोचनी गुणो और वहमारीलोचनी दृष्टि से लेइशमैनता के दो प्रकार होते हैं--(1) ग्रामीण या तीव्र विमृतिक या आरभिक व्रणन वाला प्रकार (जनुक्लेशिक), (2) शहरी या विलंबित व्रणन वाला, चिरकालिक प्रकार (मानुपक्लेशिक)।

प्रथम प्रकार की लैइशमेनता का निमित्त कारण लेइशमानिआ ट्रोपिका माजोर (मेजर) है, जिन्हे बालुका-मक्खिया पैठन-वाहक कृतको से आदमी मे फैलाती है। रोग के इस रूप के लिये अतर्शयन-काल अपेक्षाकृत अल्प है (एक से आठ सप्ताह तक, लेकिन औसतन दो-चार सप्ताह), रोग की कोप-अवधि भी अपेक्षाकृत कम है (तीन से छ महीने तक)। बीच मे ही खत्म हो जाने वाला रोग-प्रवाह भी देखने को मिलता है, जिसमें एक या दो महीने तक में क्षताक पड़ जाते है।

अतर्शयन-काल के अत में बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर भूरी आभा से युक्त, तीव्र शोथी चमकदार लाल अतर्स्यंद उत्पन्न होता है। यह पेस्ट जैसा और कोमल होता है। एक या दो महीने में (और बच्चो मे एक या दो सप्ताह में) यह (अतर्स्यंद) अपघटित हो जाता है और गहरा, दर्दनाक व्रण बन जाता है। व्रण की किनारिया कटी-फटी और सुरंगित होती है; तली असमतल, अपरदित और विमृतिक द्रव्य से आच्छादित होती है। अतर्स्यंद और व्रण वर्धित होते है (व्रण का व्यास कई सेंटीमीटर तक बढ़ सकता है)। बच्चो में व्रण और भी जल्द बढ़ जाता है, रोग-प्रक्रिया लंबे समय तक बनी रहती है और अक्सर पूयकारी पैठन से क्लिष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप विद्रधि, चर्मशोण और फ्लेग्मोन विकसित हो जाते है, जो लेइशमैनता का तल्पिक चित्र बदल देते है। दो-तीन महीने तक प्रक्रिया के बढने पर व्रणों का क्षताकन (व्रणपूरण) शुरू हो जाता है, जो कई सप्ताह या महीने म पूरा होता है। इस अवधि मे व्रण की तली का कणीकरण शुरू हो जाता है, जिससे वह दानेदार लगने लगती है (मछली के अंडों की तरह; मत्स्याड लक्षण)। व्रणपूरण अक्सर मध्य स्थल से शुरू होता है, परिसर में व्रणित खात-सा रह जाता है। अत में व्रण के स्थल पर गहरा क्षतांक रह जाता है। जतुक्लेशिक प्रकार के रोग मे लेइशमानार्बो की संख्या बहुत बडी हो सकती है, कुछ रोगियों में तो 100-200 या इससे भी अधिक। ये शरीर के खुले हिस्सो मे (चेहरे, हाथ-पैर पर) होते है, पर अन्य चर्म-क्षेत्रो पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि गर्म जलवायु के देश में लोग पूरे शरीर को ढककर नहीं सोते, जिससे बालुका-मक्खियां विभिन्न क्षेत्रो पर काटा करती है।

शहरी, चिरकालिक या विलंबित व्रणन वाली लेइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिया ट्रॉपिका मिनोर (माइनर) है, जो बालुका मक्खी द्वारा रोगी व्यक्तियों से स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण करता है। रोग का यह प्रकार शहर तथा घनी बस्तियों मे होता है। इसका अंतर्शयन-काल बहुत लंबा होता है (आमतौर तीन से आठ महीने तक, यद्यपि एक-दो साल से लेकर चार-पांच साल तक भी संभव है) और इसका प्रवाह भी बहुत धीमा होता है (औसतन एक वर्ष)। इसका दूसरा नाम 'गोदोविक' (वत्सरिका) इसी स्थिति का प्रतिबिंबित करता है। रोग अक्सर उन लोगों में प्रकट होता है, जो पिछले वर्ष रोग-केंद्र के इलाके में रुके थे। बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर एक भूराभ लाल गठिका बनती है (अक्सर चम की खुली सतह पर)। गठिका एक बादाम के आकार तक बढ जाती है और एक मोटी खड्ठी से ढकी होती है। खट्ठी गिरने के बाद व्रण बन जाता है। इसकी किनारियां कटी-छटी होती है, रिम की तरह उभरी होती हैं, अतर्स्यंदित और पेस्टी (पेस्ट की तरह) होती है। व्रण की तली दानेदार हो जाती है (कणीकरण के फलस्वरूप) और एक भूरी-पीली झिल्ली से ढकी होती है। व्रण के गिर्द का अंतर्स्यंदन उस त्वचा से ऊपर उभार देता है। व्रणापूरण में कई महीने लग जाते हैं।

लसकुभीशोथ की उत्पत्ति चर्म-लेइशमैनता की एक बहुत ही लछक विशेषता है, इसे व्रण के परिसर मे मोटी डोरी के रूप मे परिस्पर्श से अनुभव किया जा सकता है। लसकुभियो का मोटा होना और कुछ स्थितियो में उन पर दृढ पर्वों का उत्पन्न होना (पार्विक लसकुभीशोथ) ग्रामीण प्रकार की चर्म-लेइशमैनता के लिये अधिक लछक है। ये पर्व अपघटित होकर व्रण बना सकते है। लसकुभीशोथ के अतिरिक्त लसपर्वशोथ भी पाया जाता है। ये दोनों ही लसकुभीमार्ग द्वारा निमित्त जीवाणुओ के प्रसार लेइशमानता का गठिवत रूप विकसित होते हैं।

सामान्य वृका के वृकार्बो जैसी छोटी, मुलायम भूराभ या पीली-लाल गठिकाए कभी-कभी क्षतांक पर या उसके गिर्द उत्पन्न हो जाती है। समानता और भी अधिक हो जाती है, क्योंकि डायेस्कोपी में 'सेब की जेली' का लक्षण नजर आता है। गठिका लंबे समय तक बनी रहती है और मुश्किल से ठीक होती है। इसे चर्म कहते है। यह अधिकाशत उन लागो को होता है, जिन्हें बचपन में ही यह रोग शुरू होता है।

रोग शुरू होने के पाच या छ महीने बाद तक लेइशमानता के तदनुरूप जीवाणुओ के प्रति स्थायी इमूनता विकासित हो जाती है।

ऊतगदलोचन—सुचर्म मे कणार्बिक अतस्यंदन, जो मुख्यत ऊतकोशिकाओ, प्लाज्माकोशिकाओ आदि से बना होता है, और न्युट्रोफीलो की अल्प सख्या पायी जाती है। कुभियो की अंतर्कला (आतरिक सतह पर एकपरती उपकला) के बहुलन

और शोफ के कारण उनमें स्पष्ट संकोचन और उनकी दीवारों में अतस्यदन पाया जाता है। व्रण बनने के पहले अधिचर्म में कटक्लश देखने को मिलता है। असख्य बोरोव्स्की-काय विशेषकर माक्रोफागों में मिलते हैं; वे कोशिकाओं के भीतर भी मिलते है और बाहर भी।

निदान के आधार है--तल्पिक चित्र, व्रणों के परिसर में पार्विक लसकुभीशोथ की उपस्थिति और निमित्त कारण (रोगकारी जीवाणुओं) की पहचान। रोग जिन जनपदों में पाया जाता है, वहा इसका निदान सरल होता है, लेकिन इन क्षेत्रों के बाहर बहुत ही कठिन होता है। अतिम स्थितियों में यह सूचना कि रोगी लेइशमैनता के क्षेत्र में रहकर आया है, बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

चिकित्सा--प्रतिजीवक मोनोमीसिन कारगर होता है (विशेषकर ग्रामीण प्रकार की लेइशमैनता के इलाज में), इसका 0.25 ग्राम नित्य 4 से 6 बार तक मुखमार्ग से दिया जाता है या 250000U की सुई पेशी में 10 से 14 दिनों तक नित्य तीन बार तक दी जाती है। एटीमलेरिया साधन दिये जाते हैं--ख्लोरोक्वीन फोस्फेट का 0.25 ग्राम दिन में दो बार (खाने के बाद) तीन से चार सप्ताह तक दिया जाता है (बच्चों को उम्र के अनुसार नित्य 0.125 ग्राम की मात्रा में नित्य एक या दो बार दिया जाता है)। एटीमोनियल साधन (सोलूसुर्मिन, पर्याय--सोडियम एटीमोनिल ग्लूकोनाट) अतर्शिरा मार्ग से दिया जाता है--5 प्रतिशत साद्र घोल के रूप में 5-10 मिलीमीटर नित्य (कुल 20 बार)। शहरी प्रकार की लेइशमैनता में गठिकाओं को मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड (हिद्रोख्लोरिद) का 5 प्रतिशत घोल से (1 प्रतिशत साद्र प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड में या डीहिद्रोस्त्रेप्तोमीसिन के साथ मिलाकर) अतर्स्यंदित किया जाता है। गठिकाए शीतोपचार, पारतापीय स्कंदन और 10 प्रतिशत पीरोगालोल मलहम से भी नष्ट की जा सकती है। व्रणों की चिकित्सा स्थानिक रूप से मलहमों द्वारा होती है; ओक्सीकोर्ट, लोकाकोर्टेन (नेओमीसिन या विओफोर्म के साथ), 2 प्रतिशत अमोनित पारद या 5 प्रतिशत सुल्फोनामीद से युक्त मलहम प्रयुक्त होते है। पुल्टिस का भी प्रयोग होता है। 1-5 प्रतिशत साद्र इख्थ्यामोल-घोल, 0 5-1 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेड के घोल या 0 1 प्रतिशत एथोक्सीडिआमीनो-आक्रीडोन लैक्टेट के घोल में तर करके।

निरोध--निजी एव सामूहिक दोनों प्रकार के उपाय प्रयुक्त होते हैं। सामूहिक में बहुमारी-क्षेत्र के कृतक जंतुओं और बालुका-मक्खियों के उन्मूलन का काम आता है। कृतकों का उन्मूलन करने के लिये उनके बिलों के पास ख्लोरोपिक्रिन रखा जाता है--बस्ती के गिर्द 15 किलोमीटर चौडे कटि-क्षेत्र में। यह चौडाई बालुका-मक्खियों की उडान द्वारा निर्धारित होती है। बालुका-मक्खियों के अडे देने के स्थलों (कूड़ा-करकट आदि) पर ब्लीचिंग पाउडर छिड़का जाता है, घरों में DDT

या इक्सारलागन छिड़का जाता है।

चूंकि बालूका-मक्खी लोगों पर रात को ही आक्रमण करती है, इसलिये मच्छरों या अन्य कपड़े के पर्दे को कीड़े भगाने वाले (विकर्षी) [illegible] में गीला करके बिस्तर से ऊपर टांग देते हैं। दिन के समय त्वचा के खुले क्षेत्रों पर कीट-अपनोदक क्रीम या लोशन का लेप करते हैं। [illegible] डीमेथिलफ्थालात भी कुछेक घंटे तक बालुका मक्खियों से बचाव कर सकते हैं।

लेइशमेनता के जीवाणुओं से कृत्रिम सक्रिय इमूनीकरण से भी अच्छे परिणाम मिले है। जीवित लेइशमानिआ ट्रॉपिका मातोर से युक्त द्रव माध्यम की 0.1-0.2 मिलीलीटर मात्रा की बाह या जाघ मे अतर्चर्म सुई से दोनो ही प्रकार की लेइशमैनताओं के प्रति इमूनता उत्पन्न करती है। सुइ के स्थान पर लेइशमेनार्व उत्पन्न होता है, जो सामान्य पैठन से उत्पन्न लेइशमैनार्व की तुलना मे बहुत मृदम प्रवाह ग्रहण करता है।

वीरुसज चर्मक्लेश

वीरुसज (वीरुसजनित) चर्मक्लेश चर्मरोगो का एक अपेक्षाकृत बड़ा ग्रुप बनाते हैं; ये रोग अक्सर बहुत पाये जाते हैं। इस ग्रुप में निम्न की गणना होती है–विसर्प, कीलक, छुतहा मोलुस्क, नुकीला कंडार्व। ये रोग बच्चो के लिये (विशेषकर 5 वर्ष की उम्र से) बहुत सामान्य है। सबसे अधिक यह रोग 5 से 8 वर्ष के बच्चो मे पाया जाता है। वयस्कों के बीच 3-4 प्रतिशत चर्मरोगी वीरुसज चर्म-क्लेशों से ग्रस्त होते हैं और बच्चो के बीच करीब 9 5 प्रतिशत चर्मरोगी। वीरुसी फ्लोरा (उद्‌भिज) गर्भाशय के भीतर पहुचकर भी बच्चे को ग्रस्त कर सकते हे, लेकिन नवजात शिशु प्रसव के समय या अपने जीवन के प्रथम दिनो मे इन रोगो से ग्रस्त नही होता, क्योंकि मा के रक्त के साथ एंटीवीरुसी प्रतिकाय स्थानातरित होते है, जिससे भ्रूण और शिशु में भी असक्रिय इमूनता आ जाती हे। इमूनता दो वर्ष की उम्र से कम होने लगती है, जिससे वीरुसज चर्मरोग विकसित हो सकते है। वीरुस शरीर मे विभिन्न मार्गो से प्रविष्ट हो सकते हैं–चर्म द्वारा, सदूषित वस्तुओं से, श्लेष्मल झिल्लियो से होकर (रोगी व्यक्ति या वीरुस-वाहक व्यक्ति के साथ मैथुन या चुबन से), छीक, खांसी आदि के समय निकलने वाली बूदो से। इमूनता की कमी या अनुपस्थिति के केस मे अंतर्शयन-काल कुछ दिन से लेकर दो या तीन सप्ताह लबा हो सकता है।

सरल विसर्प

यह रोग छन्य वीरुसो से होता है इसके मुख्य लक्षण है–अतिरक्तित क्षेत्रो

पर स्फाट और ग्रुपो मे उत्पन्न वस्तिकाए जिनका अतर्द्रव पहले तो स्वच्छ होता है फिर धुधला पड जाता है। इसके प्रिय स्थल है—होंट (ओष्ठ-विसर्प), गाल (कपोल-विसर्प), नाक के पार्श्व (नासा-विसर्प), मुख-श्लेष्मला (मुख-विसर्प), शृंगिका (शृगिका विसर्प) और जननेद्रिय (जननेंद्रिय-विसर्प)। वस्तिकाए सूखकर खड्डी मे परिणत हो जाती है, जिसके गिरने पर कोई दाग नही रहता। मुख-श्लेष्मला पर फट गयी वस्तिकाओ का अपरदन पीडाजनक होता है, उसकी किनारियां अतिरक्तिल और शोफित होती हैं (श्वेतव्रणीय मुखशोथ)।

स्फोटो में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है, जिसे प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न है—अत्यधिक ठड के प्रति स्त्रेस-जनित प्रतिक्रिया, पैठनजनित रोग, अतिश्रुति, नार्विक-मानसिक और शारीरिक चोट, कडी धूप (आतपघात)। सरल विसर्प अक्सर जठरांत्र-कार्य मे गडबडियां, क्लोमशोथ, गरलता, लू, ज्वरकारी रोगो (ज्वरकारी विसर्प) के बाद और ऋतुकष्ट के समय होता है।

स्फोट से पहले अक्सर अस्वस्थता की अनुभूति, कंपकपी, बेचैनी, जलन, क्षुधाहानि और अनिद्रा भी होती है। क्षेत्रीय लसपर्व वर्धित हो जाते हैं। निम्न तल्पिक रूपो में भेद किया जाता है—(1) हल्का, जिसमे क्षतियो की संख्या कम होती है और वे बहुत जल्द अपचोषित हो जाती है; (2) शोफित, जिसमें चमकीली रक्तस्फीति और स्पष्ट सूजन होती है (जैसे गालो पर), (3) तीव्र रूप (सरल व्रणित विसर्प); (4) कटिबधकवत सरल विसर्प; (5) अक्सर पुनरावर्ती रूप—होंठों (सिदूरी सीमा) पर, नितंबों और बाह्य जननेद्रियां पर।

ऊतगदलोचन—मुख्य लक्षण है—फुलाव, अधिचार्म कोशिकाओ का जालिकीय अवजनन और कटलय। फूलती कोशिकाओ तथा विस्फारित रक्त-कुंभियो मे अतरानाभिकीय एओजीनोफीलिक अतर्वेशन और सुचार्म पिटिकामय परत मे हल्का परिकुभिक अतस्यंदन पाया जाता है।

निदान—विशिष्ट तल्पिक चित्र मिलने पर निदान बहुत सरल होता है। कटिबधक विसर्प के विपरीत, सरल कटिबंधकवत विसर्प मे परिसरीय नर्वो के वितरण के सहारे-सहारे पीडा नही होती। श्वेतव्रण मे किनारिया बहुचक्रीय नही होती। जब सरल विसर्प जननेंद्रिय पर होता है, तो इसे अपरदित कठव्रण से विभेदित करने मे अपरदित सतह की बहुचक्रीय किनारी, तली पर कठोरन की अनुपस्थिति, प्रयोगशालीय परीक्षण के नकारात्मक परिणाम सहायक होते है। तीव्र कोमलता (कमजोरी) और ज्वर लिप्शोयेट्स-छापिन द्वारा निरूपित भग के तीव्र व्रण के लक्षण है।

चिकित्सा—शुष्ककारी और निर्षैलक दवाओं का बाह्य रूप से प्रयोग होता है। ये निम्न है—सिल्वर नाइट्रेट का 1-4 प्रतिशत घोल, पिओक्तानिन (जेंशियन

वायोलेट का 1 प्रतिशत घोल, आक्सालीनम [illegible] 3 प्रतिशत या टर्फेगन का 30-50 प्रतिशत मलहम, ब्रोनाफ्तान, गोसीपोल [illegible] आर्फेनम, 1 3 प्रतिशत फ्लोरेनल मलहम और सल्फर कार्बोलिक पेस्ट (Ac carbolici 1 0, Sulfuris 1 5, Pastae Zinci 30 0)।

केलेंडूला, पोटाशियम परमेंगनेट, एथाक्रिडीन-[illegible] लैक्टेट या हाइड्रोजन पेरोक्साइड से युक्त कसैले [illegible] घोलों से [illegible] विसर्प में प्रतिलिखित किया जाता है। प्रकीर्णित और अक्सर पुनरावर्तित होने वाली रोग-प्रक्रिया का इलाज तीन दिनों तक हर छः घंटे पर 2 3 मिलीलीटर इंटरफेरोनोजेन की अतर्पेशीय सुई से होता है। बहुसंयोजी (पालीवलेन्ट) प्रतिविसर्प टीका की अतर्चार्म सुई से भी लाभ होता है। (0 1-0 2 मिलीलीटर की सुई दो या तीन दिनों के अंतरालों पर दी जाती है; पूरी चिकित्सा पांच-पांच सुइयों के दो दौर में सपन्न होती है, इन दौरों के बीच दस दिन का अंतराल रखा जाता है)। पुनरावर्तन को रोकने के लिये गामा ग्लोबूलिन की सुई, स्वरक्त चिकित्सा और ज्वरकारी दवाओ का प्रयोग होता है। सहवर्ती पूयकारी पैठन निकर्मित होने पर विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक दिये जाते है।

कटिबंधक विसर्प

इसे शिंग्लेस या जोना भी कहते है। इसका निमित्त कारण एक नर्वपर्ययी छन्य वीरुस है—स्ट्रोंगीलोप्लाज्मा जोने। प्रतिजनिक संरचना और आदमी के भ्रूण-ऊतको मे प्रजनन की क्षमता मे यह छोटी शीतला (चिकेन पाक्स) के वीरुसो से मिलता-जुलता या उनके साथ समात्मिक होता है। कटिबधक विसर्प के रोगी के सपर्क मे आये बच्चे मे छोटी शीतला का विकास इस विचार की पुष्टि करता है कि ये दोनो जातिया परस्पर सबद्ध है। इसके अतिरिक्त, कई ऐसे केस भी पाये गये है, जिसमे रोग असली कटिबंधक विसर्प से शुरू होता है और फिर छोटी शीलता मे परिणत हो जाता है, इसके स्फोट धड और हाथ-पैरो पर भी फैल जाते हैं।

अतर्शयन-काल (सात या आठ दिन) के बाद अतिरक्तित चर्म-क्षेत्रो पर वस्तिकाए ग्रुपो मे उत्पन्न होती है; ये चर्म-क्षेत्र एक या अधिक नर्वो के खडीय वितरण के अनुरूप होते हैं। स्फोट से पहले नर्व-वितरण के सहारे-सहारे पीडा के दौर, जलन, ग्रस्त क्षेत्रो मे रक्तस्फीति, सामान्य कमजोरी, कपकंपी और सिरदर्द के प्राग्लक्षण उत्पन्न होने हैं।

स्फुटित वस्तिकाएं मटर के दाने जितनी बड़ी और तनी हुई होती है, अंतर्द्रव स्वच्छ सीरमी होता है। ये संगम करके सूक्ष्म शुक्तिक किनारी वाले पैठन-अधिकेंद्र बनाती है। स्फोट विशिष्ट रूप से असममित और एकतरफा होते है। इसके निम्न

तल्पिक रूप है--(1) सार्वदैहिक कटिबधक विसर्प (प्रकीर्णित), जिसमे दोतरफा प्रकीर्णित क्षतिया होती है, (2) रक्तस्रावी कटिवधक विसर्प, जिसमे वस्तिकाओ का स्वच्छ अतर्द्रव पूयिक हो जाता है, फिर जब प्रक्रिया सुचर्म में गहरी होने लगती हे, तो रक्तस्रावी हो जाता है, (3) विगलनकारी कटिबधक विसर्प, जो एक तीव्र रूप ह, इसमें वस्तिकाओ की तली विमृत होने लगती है और उनकी जगह पर क्षताक बनता हे; (4) हल्का (पूर्वपाती) रूप, (5) बुल्लेदार रूप, जिसमे वस्तिकाओ के साथ-साथ बुल्ला भी प्रकट होते है।

चर्म पर रोग की तीव्र अभिव्यक्तियो के गायब होने पर भी स्थायी नर्वपीडा और अपूर्ण लकवा (पेशियो का श्लथ रहना) प्रेक्षित होता है।

आंखो मे प्रक्रिया का स्थित होना एक खतरनाक परिस्थिति है, जिसका अत कभी-कभी शृगिका तथा पूरे नेत्र के व्रणन के साथ होता है। आखों को ग्रस्त करने वाला तीव्र रूप अक्सर बच्चों को नही होता। त्रिशाखी या चेहरे के नर्व का अपूर्ण लकवा और वधिरता अन्य क्लिष्टताए हैं। रोग छादिकाशोथ और मस्तिष्कशोथ से भी क्लिष्ट हो सकता है।

वीरुसी पैठन की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न है—पैठनजनित रोग, गरलता (गरणक्लेश), द्रव्य-विनिमय की गड़बडिया, रक्त के रोग, नार्विक एवं मानसिक अतिस्त्रेस, शरीर का ठडा होना (ठड मे) और शारीरिक चोटें। प्रक्रिया अक्सर ठंडे मौसम मे होती है और उग्र रूप धारण करती है (वसत और शरद ऋतु मे)। कटिवधक विसर्प किसी भी उम्र में हो सकता है, पर बहुत छोटे बच्चो (शिशुओ) मे यह विरले ही होता है।

अविशिष्ट पुनरावर्ती प्रवाह वाले कटिबधक विसर्प के वयस्क एव वृद्ध रोगियो का परीक्षण करना चाहिए कि दुर्दम नौवर्ध या रक्त का कोई रोग तो नही हे। कटिबधक विसर्प कभी-कभी चर्मरक्तता (हेमोडेर्मिआ) के कुछ रूपों से पूर्व प्रकट हो सकता है।

ऊतगदलोचन—अधिचार्म कोशिकाओं का फुलाव और जालिकीय अवजनन, अतरानाभिकीय वीरुसी अतर्वेशन और नर्व-रेशो में अवजनक परिवर्तन देखे जाते हे। तीव्र शोथी बहुरूपनाभिकीय अंतर्स्यदन (मुख्यत. लसकोशिकीय तथा ऊतकोशिकीय प्रकृति का), शोफ और रक्तवाही एवं लसवाही कुभियो का विस्फारण भी पाया जाता है।

निदान—स्फोटो से पूर्व और उनके साथ दहकती पीड़ा और ग्रुपों मे उत्पन्न वस्तिकाओ का रैखिक क्रम (ग्रस्त नर्वो के खडीय वितरण के अनुतीग) कटिबधक विसर्प को सरल विसर्प और चर्मशोण से विभेदित करता है।

चिकित्सा—निम्न दवाए प्रलिखित की जाती है– एटीवीरुसी दवाए

मेथीसाजोनुम या कुटीजानुम (तीन से [illegible] दिनों तक नित्य दो या तीन बार एक-एक टिकिया), इंटरफेरोन, [illegible] और [illegible] ([illegible] अम्ल, अमीडोगोगीन, फेनिलबुटाजोन, [illegible]) विटामिन B, B, B, B, C स्वरक्त-चिकित्सा, गामा ग्लाबूलिन की सुई और इंटरफेरोनोजेन।

निम्न भौतिक उपचारों की सलाह दी जाती है—पराबैंगनी [illegible], [illegible] परास्वन, गले की अनुकंपी ग्रंथिकाओं का [illegible] पारतापन, पारप्रवाहिक विद्युत्-धाराएं, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का विद्युत्प्रवहन, प्रोकेन से [illegible] बंधन, 50 प्रतिशत इंटरफेरोन से युक्त मलहम का स्थानिक प्रयोग।

तीव्र स्फोटों में मलहमों से क्षोभकारी चिकित्सा और स्नान प्रतिसकेतित है। इस अवधि मे चिकित्सा पाउडरों के उपयोग तक सीमित रखी जाती है। प्रतिशोथी व निष्पैठक पेस्ट, क्रीम और मलहम बाद में प्रलिखित किये जाते हैं—1-2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम से युक्त मलहम, 0 5 प्रतिशत फ्लोरेनल मलहम, 20-50 प्रतिशत इंटरफेरोन या इंटरफेरोनोजेन से युक्त मलहम, अनीलीन रंजकों का 1-2 प्रतिशत टिंचर, स्टेरोइड हार्मोनों (ओक्सीकोर्ट, हिआक्सीजोन, डेर्मोजोलोन, लोरिडेन S) के मेल के साथ-साथ प्रतिजीवकों से युक्त मलहम और इमल्शन।

एंटीवीरुसी मलहमों (बोनाफ्टोन, गोसीपोल, टेब्रोफेनुम इंटरफेरोन) के साथ साथ अनीलीन रंजकों का बाह्य प्रयोग चिकित्सा मे लाभकर होता है। स्फोट प्रकट होने पर रोगी को स्नान नहीं करना चाहिए।

निरोध—शरीर को ठंड लगने और गरलता से बचाना चाहिए।

कीलक

हेतुलोचन और गदजनन—कीलक के सभी रूप छन्य चर्मपर्यपी वीरुसों या इनकी अत्यत निकट की जातियो से होते हैं। रोग छुतहा है। स्वस्थ व्यक्ति में यह रोग रुग्न व्यक्ति से सीधे सपर्क द्वारा सदूषित वस्तुओं के माध्यम से सक्रमण करता है। रोग विकास को प्रोत्साहन निम्न घटकों से मिलता है—चर्म मे चोटज क्षतियां, इसकी शुष्कता, इसके जल-वसीय आवरण में pH की कमी, नीलपर्यगता के साथ पनपू नर्वक्लेश या अतिस्वेदन। एक ही स्थल पर कीलकों का क्रमिक स्वारोपण भी पाया जाता है, जिसे वीरुसो की वर्धित विषालुता सप्रेरित करती है। यह माना जाता है कि केंद्रीय नर्वतत्र रोग के गदजनन मे योगदान करता है, पर इसकी भूमिका अभी तक स्पष्ट नही है।

इस मान्यता की पुष्टि इस बात से होती है कि अनेक केसो में शब्दाधान (सजेशन) और स्वापन (हाइप्नोसिस) से भी चिकित्सा हो जाती है। अतर्शयन-काल कुछ सप्ताह से लेकर कई महीनो तक लबा हो सकता है (यह कृत्रिम आरोपण से

सिद्ध किया गया है कीलक के कई रूप है

सामान्य कीलक का निमित्त कारण मोलीटोर वेरूके नामक वीरूस है यह अधिकांशत: बच्चा तथा युवको के हाथ-पेर पर होता है, चेहरे पर अपेक्षाकृत कम होता है।

स्पष्ट परिसीमित, कठोर, पीड़ाहीन अर्धगोलाकार क्षतियां उत्पन्न होती है, जो त्वचा से ऊपर उभरी रहती हैं। वे सामान्य त्वचा के रंग के या भूरी या कत्थई आभा के साथ होते है, शोथ नहीं होता। इनकी सतह दानेदार और रुखड़ी होती है और सरचना कभी-कभी पार्विक होती है। इनका आकार पिन के सिर से लेकर बाजरे के दाने के बराबर तक हो सकता है। इनकी बडी-बडी जमघटे बनती है, जो बाद मे संगम कर जा सकते है। तलवों व हथेलियों पर ये त्वचा से बहुत कम उभरे हुए दिखते है, उन पर शृगीक्लेश (शृगनता) होती है। कीलको की सख्या एक से लेकर कई दर्जनो तक हो सकती है।

ऊतगदलोचन—ऊतलोचनी चित्र अतिशृगनता और पिटिकार्बक्लेश से लंछित होता है।

चिकित्सा—स्थापन के साथ शब्दाधान कारगर सिद्ध होता है। विद्युतूस्कदन या पारतापीय स्कंदन, खुरचन, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल, ठोस कार्बन-डाई-आक्साइड या द्रव नाइट्रोजन से ठंडा करके जमाना (शीत-चिकित्सा या शीत-विनाश) प्रयुक्त होता है। इंटेर्फेरोन, कोल्खीसीन 2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम, 1-3 प्रतिशत फ्लोरेनल और गोसीपोल से युक्त मलहम लगाये जाते है और क्षतियो का उपचार फाउलर (Fowler) के घोल या फेरेजोल (40 प्रतिशत फेनोल और 60 प्रतिशत त्रिक्रेजोल) से किया जाता है।

चौरस कैशोर्य कीलक बच्चों और किशोरों में ही अधिकांशत: होता है। ये हल्की-सी उभरी हुई, बहुभुज या गोल आधार वाली चौरस कठोर क्षतिया है। इनकी सतह चिकनी होती है, आकार बाजरे के दाने से लेकर मसूर के दाने के बराबर तक हो सकता है। कुछ केसो मे इनका रंग सामान्य त्वचा जैसा ही होता है, अन्य केसो मे पीताभ गुलाबी या पीताभ भूरा होता है। बहुसंख्य चौरस कीलक अक्सर हथेली के पीछे, चेहरे (ललाट) पर, गरदन और प्रबाहु पर फैले होते हैं; एक पक्ति के रूप मे कम ही होती है।

ऊतगदलोचन अतिशृगनता और कटलय इसकी लछक विशेषताए है।

निदान सरलता से हो जाता है। इस अवस्था को कभी-कभी चौरस शैवाक से विभेदित करना पडता है, जिसमे पिटिकाए मोम जैसी चमक, केंद्र मे नाभि जैसे अवनमन, बैगनी-लाल रंग ओर खुजली द्वारा शोथी अतस्यंदन और आक्राति-केंद्र के परिसर में ललाभ-बैंगनी सीमारेखा द्वारा लंछित होता है।



सामान्य कीलक

चिकित्सा—स्वापन के साथ शब्दाधान से चिकित्सा और मनोचिकित्सा का उपयोग होता है। फाउलर का घोल और मैग्नेशिया उस्त्र (दो या चार सप्ताह के लिये 0 25-0.5 ग्राम नित्य तीन वार) प्रलिखित किये जाते है। बाह्य उपचार शृंगिघोलक मलहमों से होता है, जिनमें सैलीसीलिक, बेंजोइक तथा लैक्टिक अम्ल और रेसार्सिनोल होते है। पराबैंगनी किरणों या बक्की (Bucky) की किरणो की ललामिक खुराकें, इटर्फेरोन, गोसीपोल, प्रोपोलिस, कोलान्खे (colanchoe) ऑक्सोलीनुम और बोनाफ्टोन प्रलिखित किये जाते है।

तलवो के कीलक सामान्य कीलको का ही एक रूप है। जूतों से पैरो का कसना, तलवो मे चोटज क्षति और पैरो (गोडों) का अतिस्वेदन इनकी उत्पत्ति मे सहायक होते है। ये कीलक कभी-कभी नख-सेज पर उत्पन्न हो जाते है, जहा इनके कठोर वर्धन से बहुत पीडा होती है। चुटैल होने के कारण चलने मे कठिनाई होती है, वे ठेले से मिलते-जुलते होते हैं। वे अक्सर अल्प सख्या में होते हैं। कीलको के

ऊपर रोगित रूपों का तरह व भी कष्टमिश्र पिटिकावता और अति-शृगनता से लक्षित होते है

चिकित्सा—दवा नाइट्राजन (शीत-चिकित्सा), काल्खामीन-मलहम और क्षतियों पर 10-20 प्रतिशत साद पोडोफीलिन घोल लगाने के लिये प्रलिखित किये जाते है। निम्न क्रमत प्रसाधन प्रलिखित किया जाता है-

Rp Ac salicylici 1 0

Ac. acetici 9,0

Collodii elastici 10 0

MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

कीलक के गिर्द चर्म पर जिंक-पेस्ट लेपा जाता है (आस-पास के ऊतकों की रक्षा के लिये) और कीलक पर 50 प्रतिशत दवाओं (उपर्युक्त) से युक्त कोलाइडी प्रसाधन लगाया जाता है। यह हर तीन-चार दिन मे एक बार दोहराया जाता है। इसके बाद गोड को सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट से धोकर केंची की धार से कोलाइडी झिल्ली और मुलायम हो चुका शृगी द्रव्य दूर किया जाता है। प्रक्रिया तब तक दोहरायी जाती है, जब तक कीलक जड़ से समाप्त नही हो जाता। तलवे के कीलकों को दूर करने की एक कारगर विधि खुरचना भी है।

नुकीला (या आर्द्र) कंडार्ब

यह उन लोगो को होता है, जिन्हें अच्छी तरह सफाई से रहने की आदत नही होती। इसके वीरुस मैथुन से भी संप्रेषित हो सकते हैं।

सुजाक, त्रीखोनाद-जनित तथा अन्य मूलो के स्राव रोग के गदजनन मे महत्त्वपूर्ण होते है। नुकीले कंडार्ब जननेद्रियो और मूलाधार के क्षेत्र मे उत्पन्न होते है, विरल केसों में वे कांख में और स्तन के नीचे भी उत्पन्न होते हैं। नन्हे, मुलायम, नुकीले और गुलाबी कीलक बनते है। जब वे सगम कर जाते है, तो पिटिकार्बिक प्रवर्ध मिलता है, जिसकी सतह फूल-गोभी या रास्पे-बेरी जैसी दिखती है। ये प्रवर्ध मसृणित और व्रणिल हो सकते हैं। कुछ क्षतियो का आधार बहुत सकरा होता है, जिसे पादिका कहते हैं। कंडार्बो के बीच एक बुरी गंध वाला स्राव भी जमा हो जाया करता है।

निदान—आर्द्र कडार्ब को चौरस (सीफिलिक) कडार्ब से विभेदित करना महत्त्वपूर्ण होता है, जिसमें आधार चौडा होता है, संहति कठोर व प्रत्यास्थ होती है, फांको मे बटा हुआ नही दिखता, उनके स्राव मे असख्य त्रेपोनेमा पालीडुमा जीवाणु मिलते है। द्वितीयक सीफिलिक चरण के अन्य लक्षण और रक्त की सीरमलोचनी जाच के धनात्मक परिणाम निदान मे सहायक होते है। सीफिलिस के रोगी मे

नुकीले और वाम्म कंडार्व दोनों ही एक साथ पाये जा सकते हैं।

चिकित्सा—पारम्पारिक स्कंदन, विद्युत दाग, [illegible] और [illegible] के तीक्ष्ण चम्मच से खुरचन का उपयोग करते हैं। नुकीले कंडार्व का [illegible] व पदमगलद के तेज घोल, [illegible] एसीटिक अम्ल और [illegible] घोल से जलाया जा सकता है या [illegible] और [illegible] भाग [illegible] भाग त्रिक्रजोल के मिश्रण) से लेपा जा सकता है। [illegible] (दागने वाले पाउडर (रेसार्सिनोल और टेल्कम बराबर-बराबर) तथा [illegible] प्रतिस्थापित किये जाते हैं। नुकीले कंडार्व के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटक दूर किये जाते हैं।

छुतहा मोलुस्क

यह रोग वृहत्तम छन्द्य वीरूस मोलीटार कॉन्टैजिओसिस से होता है, जिसका छुतहापन प्रायोगिक तौर पर सिद्ध किया जा चुका है (जब इस रोग की क्षतियों का अतर्स्यंद स्वस्थ व्यक्तियों के चर्म में पुनरारोपित किये गये)। पैठन रोगी या वीरुसवाहक व्यक्ति से प्रत्यक्ष संपर्क से या उनकी संदूषित वस्तुओं के माध्यम से प्रसारित होता है। यह रोग बच्चों में अधिक प्रचलित है। बाल प्रतिष्ठानों में समय-समय पर बहुमारी फैल जाया करती है। अन्तर्शयन-काल दो सप्ताह से लेकर कई महीनों तक लंबा हो सकता है। मटर के दाने के बराबर और सामान्य त्वचा के रंग की, या गुलाबी-भूरी (मुक्ता-सीप के रंग की) एक पर्विका बन जाती है। यह अर्धगोलाकार होती है, केंद्र में क्रेटर जैसा गड्ढा होता है। अंदर का द्रव्य छेने जैसा होता है, जिसमें सूक्ष्मदर्शी से अवजनित चमकदार अंडाकार उपकलीय कोशिकाएं दिखती हैं, इनमें बड़े-बड़े प्रोटोप्लाज्मिक अनवेश होते हैं (मोलुस्की के काय)। कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती। पर्विका अकेली भी हो सकती है और दर्जनों की संख्या में भी (प्रकीर्णित क्षतियां)।

बच्चों में इसके प्रिय स्थल चेहरे पर आंखों के गिर्द, गर्दन, वक्ष और हथेलियों के पीछे हैं। वयस्कों में क्षतियां अधिकांशतः बाह्य जननेंद्रियां, जघन और पेट पर होती हैं, जो मैथुन से पैठन की संभावना की ओर इंगित करता है। इसके निम्न तल्पिक रूप हैं--अम्हौरी जैसा छुतहा मोलुस्क, जिसमें असंख्य नन्हीं क्षतियां उत्पन्न होती हैं, पादिकित छुतहा मोलुस्क, जिसमें डंठलनुमा (पादिकित) क्षतियां होती हैं; विशाल मोलुस्क, जिसमें क्षतियां संगम करके विशाल हो जाती हैं।

निदान में निम्न लक्षणों से सहायता मिलती है--पर्विका के पार्श्वों को चिमटी से दबाने पर उसके मध्य से सफेद दलिया जैसा छेना-सदृश शृंगी कोशिकाओं का समूह और मोलुस्कों के अंडवत काय निकलते हैं। कीलकों के केंद्र में कोई

ानमन (गड्ढा) नहीं होना, मुक्ता साफ जमी सतह भी नहीं होती।

चिकित्सा—पतिका को चिमटे से दबाकर अंतर्द्रव्य निकाल दिया जाता है या तीक्ष्ण चम्मच से खुरचकर दूर कर दिया जाता है। इसके बाद आक्रांति-क्षेत्र पर 5 10 प्रतिशत सांद्र आयोडीन-टिंचर लेपा जाता है, फिर 3 प्रतिशत ओक्सोलीनुम या इंटर्फेरॉन से युक्त मलहम लगाया जाता है। पारनापीय स्कदन और शीत-चिकित्सा भी दी जाती है।

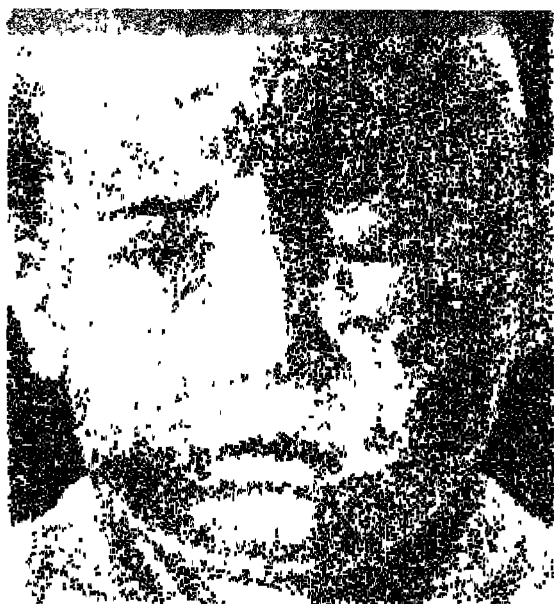
विसर्पी दिनाइ

विसर्पी दिनाइ को कापोसी (Kaposi) का मसूरिकावत स्फोट या टीकावत पीपिकाक्लेश भी कहते हैं। यह दद्रुग्रस्त (दिनाई से ग्रस्त) बच्चे को बुदबुदियानुमा चौरस शैवाक से पीड़ित व्यक्ति के संपर्क (संसर्ग) में आने के तीन से सात दिन बाद शुरू होता है। इसकी लल्पिक अभिव्यक्तियां प्रकीर्णित सरल विसर्प जैसी होती है। चर्म के ललामित और शोफित क्षेत्रों पर यत्र-तत्र पिटिकीय-कुंभिक तथा पीपिकीय क्षतियां और एकल-कोष्ठीय वस्तिकाओं के प्रकीर्णित ग्रुप उत्पन्न होते है, जिनके मध्य में नाभि जैसा अवनमन होता है। वस्तिकाओं के अपचोपण के बाद सतही क्षतांक रह जाते है। जननेंद्रियों तथा मुख-कोटर की श्लेष्मल झिल्लियां भी अक्सर ग्रस्त हो जाती है। स्फोट अचानक तीव्र गरलक्लेश, तेजी से आये ज्वर (39-40°C), धुंधली चेतना और यकृत व लसपर्वों के वर्धन के साथ उत्पन्न होते है। क्लोमशोथ, छादिकीय कुसंवृत्तियां, मस्तिष्कशोथ, कर्णशोथ, शृंगीयुतिकाशोथ (कभी-कभी शृंगिका के व्रणन के साथ) और जठरांत्र की गडबड़ियां भी विकसित हो सकती हैं।

ऊतगदलोचन—वस्तिकाओ का स्थान अतराचार्म एव अवचार्म होता है। फुलावयुक्त अवजनन के लक्षण विशिष्ट होते हैं। टीकाजनित दिनाइ के अधिकेंद्र मे रिसालु अवजनित कोशिकाएं पायी जाती हैं।

कुछ केसो मे भविष्यवाणी प्रतिकूल होती है। यदि बच्चा कमजोर और नि शक्त है और आतर अग तथा नर्वतंत्र भी रोग-प्रक्रिया की चपेट मे आ गये है, तो परिणाम घातक भी हो सकता है।

चिकित्सा—अवसवेदक, एंटीहिस्टामीनिक व प्रशामक दवाओं तथा विटामिनों (विशेषकर B_1 व C) से चिकित्सा के साथ-साथ मेथीसाजोन (मार्बोरान) टिकियों (वयस्कों के लिए छः दिनों तक सुबह शाम 0.2 ग्राम) या 10 प्रतिशत सांद्र निलंबन (वयस्कों के लिये एक बड़ा चम्मच नित्य दो बार) के रूप मे प्रलिखित किया जाता है। 6 वर्ष से ऊपर के बच्चों को मेथीसाजोन का 10 प्रतिशत सांद्र घोल चौथाई या तिहाई मध्यम चम्मच चार दिनों तक सुबह-शाम दिया जाता है।



टीकाक्लेश

बच्चे के लिये मार्बोरान की एक खुराक 0.04 ग्राम प्रति किलोग्राम (शरी भार) है, जो चार दिनो तक हर छ घंटे पर दी जाती है। कई केस कोर्टिके से भी ठीक हो जाते हैं, जिन्हे प्रतिजीवकों (ओलेटेट्रिन, सेपोरिन आदि) और ग्लोबूलिन के साथ दिया जाता है। अनीलीन रजक और हेलिओमीसिन एरीथ्रोमीसिन के मलहम बाह्य उपचार के लिये प्रयुक्त होते हैं।

निरोध—सरल विसर्प से ग्रस्त व्यक्तियों को बच्चे की देखभाल नही चाहिए।

टीकाक्लेश (वाक्सीनता)

वाक्सीनता उन दद्रुगस्त बच्चो को होता है, जिन्हे छोटी शीतला (चि पौक्स का टीका लगाया जाता है या टीका लगाये गये अन्य बच्चे के सप

चचक जर्मी अक्सर असमर्मित क्षतिया उत्पन्न होती हैं जिनक कद्रो म एक गढ़ा सा होना है, इनके बाद क्षताक नही रहता। क्षतिया पहले टीका (पाछ) के स्थल पर उत्पन्न होती ह, जो बाद में प्रकीर्णित हो सकती हैं। कभी-कभी मुंह और जननेद्रियो की श्लेष्मल झिल्लिया और युतिका भी ग्रस्त हो जाती है। लसपर्व या तो परिस्पर्शिन नही होते, या बहुत हल्का-सा वर्धित होते हे। रोग के साथ-साथ थोडा बुखार भी रहता ह, लेकिन सामान्य अवस्था कापोसी के मसूरिकावत स्फोटो की तरह नही गडबडाती है।

चिकित्सा—गामा ग्लोबूलिन की सुइया, प्रतिजीवक (ओलेटेट्रिन और ओमीसिन, सेपोरिन, एरीथ्रोमीसिन) और मेथीसाजोन प्रलिखित लिये जाते हैं।

भग का तीव्र व्रण

लिपशोयेट्स-चापिन द्वारा निरूपित भग का तीव्र व्रण अधिकाशतः युवा लडकियों व स्त्रियो को होता है। इसका कारण डेडेरलेइन (Doederlein) द्वारा वर्णित योनिक वासिल (बासिलुस क्रासुस) है, जो सामान्य परिस्थितियों मे योनिक श्लेष्मला का कुणपतृण हे (अर्थात् वह योनिक श्लेष्मला की मृत कोशिकाओं), उनके अपघटन के उत्पादो से अपना पोषण करने वाला सूक्ष्म उद्भिज है। व्रण के पूयिक स्राव में अनेक मोटे ग्राम-धनात्मक छड दिखते हैं, जिनका सिरा उच्छेदित शकु की तरह होता है; ये ग्राम की विधि से या मेथीलेन नीले से रजित होते हे।

गदजनन—यह माना जाता है कि ठंड लगने से या पैठनजनित रोग के कारण जब लडकिया या स्त्रियों का शरीर कमजोर हो जाता है, तब डेडेरलेइन के बासिल कुणपतृण से गदजनक रूप में परिणत हो जाते है। वर्धित परोर्जिक सवेदिता ओर इस निमित्त जीवाणु के प्रति शरीर का संवेदीकरण भी रोग-प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं (रोगी मे वासिलुस क्रासुस की टीका से अतर्चार्म परीक्षण और प्रतिक्रिया का पूरक स्थिरकरण अक्सर धनात्मक होते है)।

तल्पिक चित्र—रोग का आरंभ अचानक होता है और प्रवाह तीव्र होता है, यह कुछ दिनो से लेकर दो सप्ताह तक चल सकता है। इसमे भग एवं भगोप्ठों की श्लेष्मल झिल्लिया शोफित और लाल होती है और उन पर अत्यत पीडाजनक विमृतिक व्रण बन जाते हैं। व्रण सतही होते हैं, आधार मुलायम होता है, किनारिया सुरंगित होती है और तली से सीरमी-पूयिक भूराभ पीला स्राव होता है। एक या कई व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर का तापक्रम ऊचा पाया जाता है, कंपकपी होती है। व्रणो का शीघ्र ही उपकलाकरण और (व्रण) पूरण होने लगता है, इसके बाद खड्डी अलग होती है। क्षतांक सतही और सूक्ष्म होते हे। रोग छुतहा नही हे।

निदान—क्षतियो की अतिकोमलता और आयुरी वृत्त में मैथुन-घटना की

अनुपस्थिति मे (क्योंकि रोग हाली और कुमारी चर्मकृषा कर जाता है) इस रोग को मुलायम एवं कठोर कटव्रण और सीफिलिस के द्वितीयक चरण की अपरदित पिटिकाओं से विभेदित किया जा सकता है। मुलायम कटव्रण और सीफिलिस के अन्य लक्षणों और प्रयोगशालीय परीक्षण (सूक्ष्म दर्शन और सीरमवैज्ञानिक परीक्षण) के परिणामों का भी निदान में उपयोग लेना है।

गंठिक्लशिक व्रण अक्सर अकेले (अलग-अलग) होते है, इनका प्रवाह चिरकालिक होता है, कोई तीव्र सन्तृप्ति नहीं होता। इनके स्राव में भी यक्ष्मा अनुवेदित होते है। पिर्के (Pirquet) मांटो (Montoux) और कोख (Koch) के परीक्षण धनात्मक परिणाम देते है।

जननेंद्रियो पर चोरस शेवाक के विभेदक लक्षण हैं—गुच्छो में उत्पन्न वस्तिकाओ के फटने पर क्षतियों की सूक्ष्म बहुचक्रीय परिरेखाएं और अपरदन का तेजी से उपकलाकरण। जननेंद्रिय पर पुनरावर्ती सरल विसर्प के रोगी अक्सर कोई पीड़ा नही महसूस करते।

चिकित्सा—पेनीसिलिन, सेपोरिन, सिग्मामीसिन, ओलेटेट्रिन, टेट्राओलेइन तथा एरीथ्रोमीसिन अक्सर स्वरक्त-चिकित्सा या गामा ग्लोबुलिन सुइयों के साथ प्रलिखित किये जाते है (अन्तिम की आधी खुराक की सुई तीन दिनों में एक बार दी जाती है, कुल सुइया तीन या चार होती है)। शरीर को विटामिन ए और बी-सकुल से संतृप्त रहना चाहिए। अवसंवेदक तथा एंटीहिस्टामिनिक साधन और कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन नन्हीं खुराकों मे दिये जाते है, यदि स्पष्ट तीव्र शोथी प्रतिक्रिया और कुटाली प्रवाह प्रेक्षित होता है।

अत्यंत शोथी प्रतिक्रिया और तीव्र कोपलता की स्थिति मे बाह्य उपचार के साधन प्रलिखित किये जाते हैं—शीतलकारी लोशन (बोरिक अम्ल का 2 प्रतिशत या सिल्वर नाइट्रेट का 0.25 प्रतिशत घोल) लगाया जाता है और इसके बाद जड़ी-बूटी (गुलदाउदी, गेंदा, सत जॉन के वर्ट, सहस्रपर्णा) के काढे के घोल मे या पोटाशियम परमैंगनेट के हल्के घोल मे कटिस्नान कराया जाता है। डेमाटोल-युक्त पाउडरों या लोकाकोर्टेन अथवा हिओक्सीजोन के मलहम के साथ समान मात्रा मे केलेंडुला का महलम मिलाकर स्नान के बाद लगाया जा सकता है।

जीनचर्मक्लेश या विरासती चर्मरोग

सामान्य सूचनाएं

कुछ चर्मक्लेशों के विकास मे आनुवंशिक घटको की भूमिका का सिद्ध करने वाले केसो तथा खानदानी चर्मरोगों के वर्णन नैदानिक चर्मलोचन में बहुत पहले से

मोचित होते रहे हैं तभी से जब आयुर्वी जातकी आयुर की स्वतंत्र शाखा के रूप मे अलग भी नहीं हुई थी सबसे पहले मीनचमता से ग्रस्त रोगियो का वशवृक्ष ज्ञात हुआ था, यह रोग वश की कई सततियों के लोगों में पाया गया। पिछली शती के अत में मेंडेल द्वारा आविष्कृत संततियो मे प्रबल एव अवगामी (क्षीण) विशेषताओं के प्रकट होने के नियम की सहायता से ऐसी जतिकीय रीतिया प्राप्त हुई, जिनसे अनेक चर्मरोगो के विकास मे आनुवशिकता की भूमिका स्पष्ट की जा सकी। ये रीतिया है--रोगी के वशवृक्ष का अध्ययन (वश मे किसे-किसे विचाराधीन रोग हुआ है), जुडवे बच्चों का अध्ययन (एकयुग्मी और द्वियुग्मी यमजो मे चर्मलोचनी गदलोचन का अध्ययन) और कोशिका-जतिकीय अध्ययन (कैरिओटाइप और सेक्स क्रोमाटिन की रज्यकाय-सचियो का अध्ययन) और चर्मलेखों (मुख्यत हथेलियो पर पिटिकीय मेड़ो--घाइयो के नमूनो) का अध्ययन। इन खोजो के आधार पर कुछ चर्मरोगों को सामान्य चार्म गदलोचन की श्रेणी से अलग स्थान दिया गया (जीनीय चर्मक्लेश या जीनचर्मक्लेश) और यह स्थापित किया जा सका कि आनुवंशिक चर्मक्लेश जीन में उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं; उनके विरासतन के तथ्य और प्रकार भी स्थापित किये गये।

पिछले समय से जंतिकीय खोज-रीतियो का भडार काफी बढा है; इसका कारण है जतिकी का विकास, जिससे जीन की भौतिक सरचना और विरासतन की प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले उसके रासायनिक एव भौतिकीय गुण ज्ञात हुए है। आण्विक जंतिकी, इमूनो-जंतिकी जैसी नवीन शाखाए उत्पन्न हुई। इनमे एजाइमो, नुक्लेइक अम्ल के विनिमय तथा शरीर मे द्रव्य-विनिमय के अन्य उत्पादो की उत्पत्ति और कार्यो में गडबडी लाने वाली सामान्य परिस्थितियों का अध्ययन होता है। आधुनिक चर्मलोचन मे चर्मक्लेशो और उनके प्रति जन्मजात (विरासती) प्रवणता के अध्ययन मे जंतिकीय विधियो का विस्तृत उपयोग हो रहा है।

जीनचर्मक्लेश रोगी के पूर्वजों की जननकोशिका में उत्परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, फिर भी उत्परिवर्तित जीन की उपस्थिति को सिद्ध करना और वश मे उसके प्रसार-पथ को ज्ञात करना हर मूर्त्त केस मे संभव नहीं होता। इसके कारण है--आदमी में नये उत्परिवर्तनों का उत्पन्न होना (जो पहले नही थे) और परिवार में अवगामी प्रकार के सदस्यो की सख्या कम होना। इसके अतिरिक्त, विरासती चर्मक्लेश जन्म से नही व्यक्त होते--उनका जन्मजात होना आवश्यक नही है और जन्मजात चर्मरोग का आनुवंशिक (विरासती) होना भी आवश्यक नही है। जन्मजात चर्मरोग विरासती भी हो सकते है और अंकुर-रुग्नता (गर्भधारण के चौथे सप्ताह से लेकर चौथे-पांचवे महीने तक की अवधि में भ्रूण में जीवाणु-पैठन के कारण) या भ्रूणरुग्नता (गर्भधारण के चौथे-पाचवे महीने से प्रसवकाल तक की

अवधि में पढ़ने के कारण भी हो सकता है (अंकुर embryo और भ्रूण ... में अंतर करना आजकल आयुर्विज्ञान साहित्य में गलत माना जाता है। –अनु.)

भावी चर्मलोचकों को याद रखना चाहिए कि एक जीननकल (या मिथ्या उत्परिवर्तन) नामक रोग भी है, जिसमें बाह्य घटकों के प्रभाव से कोई जीन किसी उत्परिवर्तन-विशेष की 'नकल' करने लगता है, फलस्वरूप तल्पिकतः विरासती रोग से मिलते-जुलते रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे तारुणिक या सुदम काला कंटक्लेश (वर्णक-पिटिकीय कुपोषण का विरासती सुदम रूप) और दुर्दम काला कंटक्लेश (अविरासती दुर्दम वर्णक-पिटिकीय कुपोषण)। जीननकल का अस्तित्व भी संभव है, ये ऐसे विरासती रोग हैं, जो तल्पिक लक्षणों में एक-दूसरे की नकल करते हैं, लेकिन भिन्न उत्परिवर्तित जीनों से उत्पन्न होते हैं (जैसे स्वाकायिक प्रबल और एक्स-संपर्की अवगामी मीनचर्मता)।

विरासती चर्मक्लेशों में रंज्यकायिक विपथन (रज्यकायों की संख्या और सरचना में परिवर्तन) नियमतः नहीं मिलता है। अधिकांश जीनचर्मक्लेश जंतिकीय उपकरण में अपेक्षाकृत सूक्ष्म परिवर्तनों, अर्थात् जीन मे उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते है; इन उत्परिवर्तनों के परिणाम (द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया में परिवर्तन, खमीरी रुग्नता खमीरों के कार्य या उत्पादन में गड़बडी आदि) जीवरासायनिक परीक्षणों से ज्ञात हो जाते है।

फिर भी वर्तमान ज्ञान के आधार पर जतिकीय कारणों से उत्पन्न खमीरी दोष ज्ञात करने के प्रयत्न जीनचर्मक्लेश के अनेक रोगियो मे असफल रहे। वर्तमान समय मे सभी जीनचर्मक्लेशों का वर्गीकरण या तो रूपलोचनी आधार पर होता है (शृगनता की गडबडी, वर्णकीय, बुल्लेदार आदि) या विरासतन प्रकार के अनुसार (स्वकायिक, प्रबल, अवगामी आदि)।

विरासती शृंगीक्लेश

मीनचर्मता—इस शब्द से करीब दर्जन भर अवस्थाओं को द्योतित किया जाता है, जो तल्पिकतः तो समान होते है, पर रोगलोचनी रूप से भिन्न होते है; ये अवस्थाए शृगन-प्रक्रिया मे सामान्य गडबड़ियों से उत्पन्न होती हैं। कुछ में तो चर्म की आक्राति के साथ-साथ विभिन्न आंतर अगों और तत्रों की भी गड़बडियो के उन्हीं रूपो का वर्णन करेंगे, जो चर्मलोचनी अनुशीलन में अक्सर मिला करते है।

सामान्य मीनचर्मता—यह स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासतित होता है। रोग की अभिव्यक्ति एक से चार वर्ष की उम्र से शुरू होती है, 10 वर्ष की उम्र मे चरमोत्कर्ष पर होती है और पूरे जीवन भर बनी रहती है; सिर्फ यौन परिपक्वता के समय और गर्मियो मे कुछ ठीक होती है। प्रक्रिया प्रकीर्णित प्रकृति की होती है

चर्म शुष्क ओर मोटी हो जाती है शल्कन होता है ललामी के बगर मशिकीय शृगन अक्सर प्रेक्षित होता है स्वेदक ओर वपाल ग्रथियो की क्रियाशीलता बहुत मद हो जाती है, यहा तक कि बिल्कुल रुक भी जा सकती है। आक्राति के मुख्य स्थल है--हाथ-पैर की ऋतुकारी सतहे (कोहनी, घुटने), गुल्फ जहां शृंगी द्रव्य की अच्छी-खासी परत होती है और पीठ (मुख्यतः त्रिकास्थि का क्षेत्र)। ललाट और गाल की त्वचा बचपन मे आक्रात हो सकती है, पर बाद मे शल्को से मुक्त हो जाती है। अतरानितविक तथा सधिक पुटको, काख और जंघामूल के क्षेत्र मे और जननेंद्रिय पर यह रोग नियमत नहीं होता। सामान्य मीनचर्मता की तीव्रता के अनुसार शल्कों के आकार और रंग बदलते रहते है--नन्ही, पतली, सफेद भूसी की तरह से लेकर चौडे, वडे और काले।

चर्म की शुष्कता और शृगी परतो व शल्कों के संचय और प्रकार के अनुसार सामान्य मीनचर्मता के कई तल्पिक रूपो मे भेद किया जाता है। चर्मशुष्कता सबसे हल्का रूप है, जिसमे चर्म शुष्क रहता है और शल्कन भूसी की तरह होता है। सरल मीनचर्मता मे ये पटलित शल्क होते हैं, जो मोटे हो चुके, शुष्क, कड़े और रुक्ष चर्म के साथ जुड़े रहते हैं। चमकदार मीनचर्मता में शृंगी द्रव्य बहुत अधिक सचित हो जाते है--मुख्यतः हाथ-पैर पर, लोमकूपो (लोममशिकाओं) के मुहानो मे। शल्को में मुक्ता-सीप जैसी एक विशेष चमक होती है। क्षतिया कभी-कभी फीतो के रूप मे स्थित होती है, इसीलिये सांप के शल्क से मिलती-जुलती होती है। ये शल्क अपेक्षाकृत अधिक मोटे, अधिक शृगित और गहरे काले रग के होते है, इनमे गहरी घाइयां होती है (सर्पवत मीनचर्मता)। अंत में, सामान्य मीनचर्मता का बहुत ही विख्यात रूप है--साहीनुमा मीनचर्मता। इसमें शृंगी द्रव्य के मोटे कांटे जैसे भाग त्वचा से 5-10 मिलीमीटर ऊपर उभरे रहते है और कुछ सीमित चर्मक्षेत्रों पर साही के कांटों की याद दिलाते है, विशेषकर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर। बाल ओर रोए भी शुष्क, पतले और विरले हो जाते है। नख भगुर और पतले हो जाते है या (अधिकांशत) मोटे हो जाते हैं।

मीनचर्मता के हल्के रूप से ग्रस्त रोगियो की सामान्य अवस्था काफी सतोषजनक होती है, रोग से उन्हे कोई परेशानी नही होती। तीव्र मीनचर्मता से ग्रस्त बच्चे का शारीरिक विकास बहुत मंदित हो जाता है। विभिन्न पैठनो के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता कम हो जाती है, बच्चे मे चर्मपूयता, क्लोमशोथ और कर्णशोथ के विकास की प्रवृत्ति दिखने लगती है, जो घातक भी हो सकते है।

ऊतगदलोचन--अतिशृगनता के साथ-साथ अक्सर कणमय परत भी मोटी हो जाती है। लेकिन हल्की मीनचर्मता परत का आंशिक या पूर्ण लोप हो जाता है। बडे-बडे मशिकीय केरा टिनी (केराटोटिक, शृगिक) प्लग नजर आते हैं। यह सब

सरल मीनचर्मता के लिये लछक है। प्लगो द्वारा उत्पन्न दाब मशिकाओ और वपा-ग्रथियों के निचले भाग मे कुपोषण शुरू हो जाता है। मालपीगी परत पतली हो जाती है। सुचर्म मे बहुत कम मात्रा मे परिकुंभिक लसकोशिकीय अतस्यदन देखा जा सकता है। कोलाजनी रेशो का काचरकरण और रजतप्रेमी रेशो का (स्वेद-ग्रथियों और लोमहर्षक पेशियों के गिर्द) मोटा होना सुचर्म की गहरी परता मे प्रेक्षित होता है। सामान्य मीनचर्मता के सभी रूपो में रूपलोचनी परिवर्तन सिफ मात्रात्मक होते है, गुणात्मक नही।

निदान—सामान्य मीनचर्मता के तल्पिक और रूपलोचनी निदान मे कोई कटिनाई नही होती। चर्मशुष्कता के निदान मे एक सहायक रीति प्रयुक्त होती है—स्पैचुला से त्वचा पर रेखा खीचने पर भूसी जैसा शल्कन आटे की तरह सफेद पट्टी के रूप मे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों तथा नितबो पर पिन के सिर जितनी वडी गठिकाएं नजर आती है, जिनका रग भूरा या हल्का गुलाबी (कभी-कभी नीली आभा के साथ) होता है। चमकदार मीनचर्मता मे शल्को का मध्य भाग गाढे रग का होता है, किनारियां कुछ उभरी होती हैं और हल्के रंग की होती है, क्योकि वे विलगित होने की दशा मे होती हैं। इससे इसे लोम-शैवाक से विभेदित किया जा सकता है, जिसमे हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर बाजरे जैसी रुक्ष पिटिकाएं पायी जाती हैं, इनका रंग सामान्य चर्म की तरह या हल्का लाल होता है। इन पिटिकाओ का शीर्ष शृगी शल्क से बना होता है, जो मशिकाओं के फूल मुहानो मे कसकर फंसे होते है। काटल शैवाक लोमकूपो के मुहानों में नन्हे शृगिक उभारो द्वारा लछित होता है, उभार कुछेक मिलीमीटर ऊचे होते है; उभार के भीतर अक्सर टूटा हुआ और स्प्रिग की तरह ऐंठा हुआ लोम मिलता है।

जतिकीय कारणों से उत्पन्न सामान्य मीनचर्मता को अर्जित मीनचर्मता से विभेदित करना चाहिए। यह विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योकि रोग शुरू होने के समय निदान का विशेष लक्षण हमेशा नही होता। विरासती मीनचर्मता प्रथम बार कभी-कभी वयस्क उम्र में व्यक्त होती है, जबकि अर्जित मीनचर्मता बच्चे को भी हो सकती है (कभी-कभी इसके साथ अंकुरार्विक उत्वर्ध भी होता है, जिसे लसकणार्वक्लेश या लसक्रव्यार्ब कहते हैं)। अर्जित मीनचर्मता कुष्ठ और विटामिन ए की प्राथमिक एव द्वितीय कमी से युक्त पोषणात्मक गड़बडियो के साथ भी हो सकती है।

चिकित्सा की कारगरता बहुत हद तक मीनचर्मता के प्रकार पर निर्भर करती है। इसके लिये रोग के तल्पिक लक्षण स्पष्ट होने चाहिए। लंबे समय तक विटामिन ए का प्रयोग सुसकेतित है—20-30 (बच्चों के लिये 10-15) बूद सांद्रित विटामिन ए भोजन से पहले या भोजन के समय भूरी रोटी (राई रोटी) के टुकडे पर दिन मे तीन बार करीब चार से छः सप्ताह तक दिया जाता है। बाद मे

चिकित्सा कइ बार दोहरायी जाती है अतपेशीय सुइ के लिये विशेष रूप से निर्मित विटामिन ए से अधिक लाभ होता है तेल में इसका घोल 0 5 मिलीलीटर (50000U) की मात्रा में सुई द्वारा एक दिन बीच देकर आधान कराया जाता है (प्रथम दो से चार सुइया) और इसके बाद खुराक 1 0 मिलीलीटर तक बढायी जाती है, पूरी चिकित्सा 15 से 20 सुइयो द्वारा होती है। बेहतर आत्मसातन के लिये विटामिन A के साथ विटामिन इ भी देना वाछनीय है—दिन मे एक बार एक मध्यम चम्मच मुखमार्ग से, या अतर्पेशी सुई से (एरीविट, 1.0 मिलीलीटर की सुई नित्य या एक दिन बीच देकर, कुल 20 बार)। एविट की भी सलाह दी जाती है, यह तैल घोल है जिसके 1.0 मिलीलीटर में करीब 100000U (35 मिलीग्राम) विटामिन A और 100 मिलीग्राम विटामिन ई होता है। अतर्पेशीय सुई नित्य या एक दिन बीच देकर दी जाती है (कुल 20 से 30 सुइया; एविट की सुइयां कुछ दर्दनाक होती है) या इस प्रसाधन का एक कैप्सूल दिन में दो या तीन बार दिया जाता है।

लोहे, फीटिन, कैल्सियम आदि के प्रसाधन मीनचर्मता के रोगियो को अक्सर बलवर्धक चिकित्सा के रूप मे निर्दिष्ट किये जाते है। विटामिन बी-संकुल और गामा ग्लोबूलिन की सुइया दी जाती हैं, रक्तचिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। तीव्र केसो की चिकित्सा स्टेरोइड हार्मोनों से की जाती है, चर्मपूयता होने पर साथ मे प्रतिजीवक भी दिये जाते है। थिरोइडिन की नन्ही खुराके (बच्चों की—0.01-0 02 ग्राम दिन मे एक या दो बार और बडो की—0.03-0 05 ग्राम दिन मे एक या दो बार) 15 से 20 दिनों तक निर्दिष्ट की जाती है—ढालवत ग्रथि की अवक्रिया-अवस्था मे जिससे द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया मंद होने लगती है।

निम्न युक्ति से भी लाभ होता है—38-39°C तक गर्म पानी से स्नान के बाद चर्म को मुलायम करने वाला कोई मलहम या क्रीम लगाना, जिसमे 1 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाते है या 0.25 प्रतिशत पोलीविटामिन-लवण से युक्त कोई मलहम या क्रीम लगाना (ताकि शल्क अच्छी तरह अलग हो जाया करें)। सल्फरकृत हाइड्रोजन के पानी या समुद्र-जल मे स्नान, खनिज-स्रोतों का पक लेपना आदि भी सुसकेतित है।

भविष्यवाणी—सामान्य मीनचर्मता के हल्के रूपो मे युक्तिसंगत चिकित्सा से काफी अच्छी सफलता मिल सकती है। लबे समय तक विटामिन ए से चिकित्सा, जल-चिकित्सा, तेलों का लेप (विटामिन से युक्त क्रीम, वनस्पति तेल, आसवित जल के साथ समान मात्रा मे लानोलिन मिलाकर, स्पेर्मासेटी क्रीम, लाई, कभी-कभी 0 25-0 5 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड से युक्त क्रीमो का उपयोग) रोग को उग्र होने से रोकता है तीव्र प्रवाह मे भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है

जन्मजात मीनचर्मता स्वकायिक अप्रभावी प्रकार से विरासत में मिलती है। रोग के लक्षण जन्म से ही मिलने लगते हैं। यद्यपि इसका विलंबित रूप भी है (विलंबित जन्मजात मीनचर्मता), जिसमें रोग के लक्षण जन्म के कुछ सप्ताह या महीने बाद उत्पन्न होते हैं। यह रोग सामान्य मीनचर्मता से अधिक उग्र होता है। त्वचा कछुए की पीठ जैसे मोटे मोटे शल्कों से ढंकी रहती है, जिनके बीच गहरे खांचे होते हैं, लेकिन मीनचर्मतावत चर्मारुणता की तुलना में त्वचा पर ललामी नहीं होती। उग्रतम रूप (गंभीर जन्मजात मीनचर्मता) होने पर दिर्निनक पठन और पोषण व श्वसन की गड़बड़ियों से कुछ दिनों में मृत्यु भी हो सकती है।

ऊतगदलोचन—सामान्य मीनचर्मता की तुलना में कहीं अधिक अतिशृंगनता प्रेक्षित होती है। कणमय परत बची रहती है, पर कृपोषित हो जाती है।

चिकित्सा सामान्य मीनचर्मता जैसी ही है।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता—इस रोग के दो रूपों में भेद किया जाता है—बुल्लाहीन (सूखा) रूप जो स्वावगामी प्रकार से विरासतित होता है, और बुल्लेदार रूप जो स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासतित होता है। अनेक वैज्ञानिक अब बुल्लाहीन रूप को पटलीय मीनचर्मता और बुल्लेदार रूप को अधिचर्म विलायक मीनचर्मता के नाम से पुकारने लगे हैं, क्योंकि चर्मारुणता के इस रूप की खासियत है—अतिशृगनता तथा कटलय का मेल और अधिचार्म मालपीगी परत की कोशिकाओं का गदोचीन्हक कणीय अवजनन शुरू हो जाना (निकोल्स्की के शब्दों मे—कटशृगविलयन)।

रोग का बुल्लाहीन रूप पूरे चर्म की विसरित रक्तस्फीति द्वारा लंछित होता है, चर्म शुष्क, तना हुआ और प्रचुर शल्को से आच्छादित होता है। हथेलियों व तलवों पर, कांख, कोहनी, घुटनो और जंघामूल के चर्म पुटकों मे शृगी शल्क बहुत बड़ी मात्रा में होते है। शल्क बडे, मोटे और बहुभुजाकार होते हैं, उनका रग भूरा होता है और वे अलग-अलग परतो मे जमा होते है। हथेली और तलवों पर प्रक्रिया शृगी-चर्मता से मिलती-जुलती होती है। चर्म-पुटकों के क्षेत्र मे कीलक जैसे उत्वर्ध मिल सकते है। कुछ केसों मे सार्वदैहिक ललामी और शल्कन बिल्कुल कुटाली हो जाते है और बुढ़ापे तक बने रहते है। अनेक उदाहरणो मे ललामी काफी घट जाती है या बिल्कुल गायब हो जाती है और अतिशृगनता तीव्र हो जाती है, विशेषकर चर्मपुटको पर। पलको, नाक, होठों, कर्ण-पल्लव पर चर्म के कठोर होने के साथ-साथ अपरूपन भी प्रेक्षित हो सकता है (जैसे पलकों का पलटना)।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता के बुल्लेदार रूप में स्पष्ट शोथी परिवर्तन (विशेषकर चर्मपुटको के क्षेत्र मे) प्रेक्षित होते हैं। चर्म शोफित, तनावपूर्ण और मोटा हो जाता है। इस पर बुल्ले और द्रप्रुक रिसाव जन्म से ही शुरू हो जाते हे

अतिशृंगनता एक साल पूरा कर लेने पर या अक्सर तीन चार साल के बीच विकसित होती है निकोल्स्की का लक्षण धनात्मक होता है अधिचर्म की ऊपरी परतें सरलतापूर्वक अलग हो जाती है। चेहरे की त्वचा अतिरक्तिल, तनावपूर्ण, चमकदार और शल्को से प्रचुर होती है। नख मोटे और विकृत हो जाते हैं, अवनख अतिशृंगनता विकसित हो सकती है। बाल बचे रहते है। उम्र के साथ-साथ रोग का प्रवाह सुधरने की प्रवृत्ति नजर आती है। 3 या 4 वर्ष बाद वस्तिकाए विरले ही उत्पन्न होती हैं। तलवों और हथेलियो के चर्म पर हल्की अतिशृंगनता होती है।

ऊतलोचनी चित्र कणमय परत के अतिपोषण और सुचर्म मे कटक्लेश और शोथी अंतर्स्यंदन द्वारा लांछित होता है, ये लक्षण इसे सामान्य मीनचर्मता से विभेदित करते है। स्पष्ट अतिशृंगनता और कही-कहीं पराशृंगनता के क्षेत्र भी पाये जाते हैं। बुल्लेदार रूप मे कंटक्लेश के अतिरिक्त अधिचार्म मालपीगी परत की कोशिकाओं का कणीय अवजनन भी देखने को मिलता है।

इसका **विभेदक निदान** जब सामान्य मीनचर्मता के साथ किया जाता है, तो यह ध्यान मे रखा जाता है कि यह रोग काख व जंघामूल के चर्म-पुटको और कोहनी व घुटनो के खातो को अपनी चपेट में नही लेता। मीनचर्मतावत चर्मारुणता नवजाल शिशु मे जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय के साथ विभेदित की जाती है, अतिम में चर्मारुणता नही होती और बुल्ले स्वस्थ प्रतीत होने वाले उन्हीं क्षेत्रो पर उत्पन्न होते है, जो चोट, दाब व घर्षण के अधीन होते हैं। नवजात का बहुमारिक बुदबुदिया एक छुतहा रोग है, इसमे ज्वर होता है और विभिन्न आकार के बुल्ले शोफित, ललामिक पृष्ठभूमि पर उग आते है।

चिकित्सा के सिद्धात वे ही है, जो मीनचर्मता के रोगियों के लिये है, लेकिन रोग के बुल्लेदार रूप मे विटामिन ए के विरुद्ध रोग का प्रतिरोध और कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन से चिकित्सा द्वारा सुधार देखने को मिलता है। जन्म के प्रथम दिनो मे हार्मोनी प्रसाधन की 0.001 ग्राम प्रति किलोग्राम मात्रा प्रलिखित की जाती है (इस दैनिक खुराक को तीन-चार बार मे बाटकर देते है)।

विटामिन एच (बिओटिन) बच्चो को 3-5-10 मिलीग्राम दिन में दो या तीन बार देते है, रीबोफ्लाविन 5-10-15 मिलीग्राम की खुराक मे नित्य दो बार मा के दूध के साथ मिलाकर देते है, विसरित विटामिन ए (पाल्मीटेट) 5-10-15 बूद दिन मे दो बार वाछनीय है। मुखमार्ग से एविट (नित्य या एक दिन छोडकर एक या दो केप्सूल) और 0 5-10 मिलीलीटर रीबोफ्लाविन मोनोनुक्लेओतीद (1 प्रतिशत साद्र घोल) की सुई दो-तीन साल से बडे बच्चो को एक दिन छोडकर देना लाभकर होता है। सोडियम क्लोराइड, समुद्री लवण, चोकर या स्टार्च के साथ स्नान प्रलिखित किया जाता है, जिसके बाद चर्म पर गुलाब का तेल, कारोटालिन, विटाडेर्म,

कोर्टिकोस्टेरोइड-मलहम (फ्लुमीनार, उल्टालान, 0.1 प्रतिशत मात्र प्रेद्नीजोलोन मलहम, मेलस्टोडर्म) या त्वचा मृदु करने वाला मलहम या क्रीम लिया जाता है, अंतिम मे 3-5 प्रतिशत नाफ्थालान या 1-2 प्रतिशत सैलिसिलिक अम्ल मिलाया जाता है।

लोम-शैवाक (कांटल शैवाक, सरल लोम-शृंगनता) एक विरासती रोग है और मीनचर्मता का एक पूर्वपाती (अकालपाती, एबोर्टिव) रूप है। यद्यपि यह बचपन मे ही शुरू हो जाता है, इसके तात्विक लक्षण किशोरावस्था में ही स्पष्ट होते है। यह रोग स्त्री-पुरुषों दोनों को हो सकता है। सामान्य चर्म के रंग की नन्ही, शक्वाकार नुकीली पिटिकाओं के ग्रुप कोहनी, पीठ, नितंबो और जांघों पर उत्पन्न होती है। पिटिकाओ के शिखर केराटिनी शल्कों से बने होते है, जो विस्फारित मशिकीय मुहानो मे घुसे होते हैं। पिटिकाएं इन्ही मुहानों में स्थित होती है। क्षति अपचोषित होकर मुश्किल से दिखने वाले दाग छोड जाती है। इन क्षेत्रों में लोम-मशिकाए और वपाल ग्रथिया नष्ट हो जाती हैं।

चिकित्सा—विटामिन ए, ई और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम तथा क्रीम प्रलिखित किये जाते हैं। प्राकृतिक निरोगालयों में चिकित्सा तथा समुद्र-स्नान भी फायदेमद होते हैं।

टूरेन (Touraine) की बहुशृंगनता—यह बाह्य भ्रूणचर्म का परिस्थितिज आनुवशिक कुविकास है। इसमे अनेक प्रकार की शृंगनताएं प्रेक्षित होती हैं, जैसे—तलवों तथा हथेलियो की चर्मशृंगनता, मशिकीय शृंगनताए जन्मजात नखस्थूलता आदि। रोगी मे निम्न लक्षण अवलोकित होते है—हथेलियो और घुटनों पर शृंगी परत भयंकर रूप से मोटी हो जाती है, नख अति पोषित होते हैं, बाल और अस्थिया कुपोषित होती है, दात अविकसित रहते हैं, सार्वदैहिक व स्थानिक अतिस्वेदन प्रेक्षित होता हे, असंयत मूत्रण और बौद्धिक विकास का मंदन भी देखा जाता है (यहां तक कि मूढता भी)। विभिन्न तीव्रताओं के साथ विकास की ये विसगतियां रोगी के वश मे अनेक सगे-सबधियों के बीच पायी जा सकती है।

चिकित्सा—विटामिन ए और ई की बड़ी खुराके और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम और क्रीम प्रलिखित किये जाते है। स्टेरोइड प्रसाधन और प्राकृतिक निरोगालय सुसकेतित है।

नार्वचर्मक्लेश

नार्वचर्मक्लेश के ग्रुप मे ऐसे रोग आते है जो तीव्र खुजली से शुरू होते है अक्सर साथ में   गडबडिया भी होती हैं जो खुजली के साथ-साथ पूरे रोग

क स्थान बना रहती है इनमे कडु खुजली पित्ती कृमिनवक्लेशिक शोफ और नार्वचर्मशोथ के विभिन्न रूप आते हैं।

शब्द 'नार्वचर्मशोथ' पहली बार 1891 मे ब्रौक (Brocq) ओर जैक्वेट (Jacquet) ने प्रयुक्त किया था; वे इन रोगों को चर्म नर्वक्लेश मानते थे, जिनमे विशिष्ट प्रकार की तीव्र खुजली होती है ओर बाद में चर्म का शैवाकीकरण होने लगता है।

ब्रिटिश-अमरीकी आयुर-साहित्य मे विसरित नार्वचर्मशोथ को अक्सर 'आटोपिक चर्मशोथ' कहते हैं, जिससे रोग की जन्मजात प्रकृति स्पष्ट होती है। लेकिन 'नार्वचर्मशोथ' नामक इस पीडादायक एव कुटाली चर्म के हेतुलोचन और गदजनन से सबधित आधुनिक धारणाओं के बिल्कुल अनुरूप है।

सोवियत आयुरी साहित्य में नार्वचर्मक्लेशो का निम्न वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है—(1) चर्मखुजली, स्थानाबद्ध, सार्वदैहिक, (2) नार्वचर्मशोथ, स्थानाबद्ध, विसरित; (3) कंडु, पयोपा में, वयस्क मे, पर्विकीय; (4) पित्ती (चिरकालिक)।

चर्म-खुजली

यह अपने आप मे एक स्वतत्र रोग है, जिसमे तीव्र एव कुटाली खुजली होती है, खुजली के कारण खरोंचे भी पड़ती रहती है। खुजली अनुभूत करने वाले अधिग्राहकों (रिसेप्टरों) की विशिष्टताओ के वारे मे लोग अभी भी एकमत नही है। माना जाता है कि खुजली की अनुभूति पीड़ा अनुभूत करने वाले नर्व-सिरों द्वारा या मज्जाहीन रेशो के सिरो द्वारा होती है। खुजलाहट की संवेदना की उत्पत्ति मे चर्म का सारा संवेदी उपकरण भाग ले सकता है। खुजली की सवेदना अंतर्प्रेरित करने वाले स्पंद मज्जाहीन C-ततुओ (रेशों) के सहारे अधोवल्कुटी एवं वल्कुटी केंद्रों तक पहुचाये जाते हैं।

चर्म-खुजली का निदान करने से पहले चर्म, रक्त, यकृत, वृक्क, अधोजठर, द्रव्य-विनिमय आदि की गडबडियों से संवधित उन सभी रोगो की सभावनाओ को गलत सिद्ध करना पडता है, जिनमे खुजली एक लक्षण के रूप मे उपस्थित होती है। इस रोग मे कोई भी प्राथमिक रूपलोचनी क्षति नही होती। जहां तक द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियो का सवाल है, तो वे निस्तवचन एवं रक्तस्राव के रूप में हो सकती है (विदुक या रैखिक)। हमेशा खुजलाते रहने से कुछ रोगियो के नखों की किनारिया बिल्कुल चिकनी और चमकदार हो जाती हैं। खुजली अक्सर सुबह ओर रात को दौरा के रूप मे होती है, दिन में अपेक्षाकृत कम होती है। इसकी उग्रता हल्की से अतितीव्र तक हो सकती है, जिससे आशिक या पूर्ण अनिद्रा हो जाती है। तेज खुजली रोगी के कार्य मे भी बाधक होती है। शैवाकीकरण कभी-कभी तीव्र



खुजली और खरोंचों की पृष्ठभूमि मे होता है। ऐसे केसो मे कहा जाता है कि चर्म खुजली नार्वचर्मशोथ में विकसित हो गयी है। विस्तार के अनुसार खुजली सार्वदैहिक अथवा स्थानाबद्ध हो सकती है। स्थानाबद्ध खुजली अक्सर जननेंद्रियों (भग, अंडकोष) तथा पृष्ठद्वार के क्षेत्र मे होती है। कभी-कभी वह जांघ तथा पैर की मध्य सतहों पर तथा सिर व गर्दन पर भी विकसित हो सकती है। स्थानाबद्ध चर्म-खुजली के कारण निम्न हैं—जोंक (प्रमुखत सूत्र-कृमि), भग, योनी, ऋजु आंत (रेक्टम) व पृष्ठद्वार की श्लेष्मल झिल्लियो का शोथ, स्थानीय गडबड़ियो (खुजली वाले क्षेत्रों पर वर्धित स्वेदन) के साथ-साथ पनपूनर्वक्लेश; नार्वमानसिक, नर्वयौन, अतर्स्रावी तथा अन्य गडबड़िया। सार्वदैहिक खुजली भी इन्ही क्रियात्मक गड़बडियो से होती है, लेकिन अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे—अधेड़ एवं वृद्ध लोगो मे द्रव्य-विनिमय की गडबडिया (जराकीलन खुजली), गरलक्लेश (सगर्भताकाल की खुजली) तथा अन्य जो सदा स्पष्ट नहीं हो पाते।

चिकित्सा—निम्न एंटीटिस्टामीनिक प्रसाधन लक्षणपरक (सिंपटोमेटिक) चिकित्सा मे सहायक होते हैं—मेबहाइड्रोलीन नापाडीजीलेट (डिओजोलिन) (0 05-0 1 ग्राम, दो या तीन बार नित्य), प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड (पीपोल्फेन), क्लोरोपीरामीन (सुप्रास्टिन), फेनेथार्जीन (0.25 ग्राम नित्य तीन बार, दोपहर के बाद और शाम को अधिक लाभप्रद होता है) और डीफेनिलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड (0.03-0 05 ग्राम दिन में दो बार)। सुप्रोस्टिन या पीपोल्फेन (2 0-2 5 प्रतिशत साद्र घोल के 1-2 मिलीलीटर) की अतर्पेशीय सुई का अधिक खुजलीविरोधी असर होता है।

कुछ रोगियों मे कैल्सियम के प्रसाधनो का अच्छा प्रभाव पड़ता है (कैल्सियम क्लोराइड के 10 प्रतिशत साद्र घोल के अतर्शिरीय आधान या कैल्सियम ग्लूकोनेट के 10 प्रतिशत साद्र घोल की अतर्शिरीय सुई से)। इन्हे परानुकपी नर्वतत्र की तानता (लाल चर्मालेख) की प्रबलता (प्रिडोमीनेंस) की स्थिति मे प्रलिखित करना चाहिए। अनुकपी-तानता (श्वेत विलंबित और स्थायी चर्मालेख) मे ये प्रसाधन प्रतिसकेतित है, क्योकि वे पनपू नर्वतंत्र के अनुकपी भाग को उद्दीपित करते हे। कुटाली ओर कष्टप्रद खुजली के कुछ रोगियो को कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन दिये जा सकते हे यदि वे प्रतिसकेतित न हो। कोर्टिकोस्टेरोइडो से चिकित्सा के साथ-साथ वेद्युत्-निद्रा और स्वापन के उपयोग की सलाह दी जाती है। जराकालीन खुजली के रोगी को सामान्य अश्व-पुच्छ (Equisetum नामक पौधे) का काढ़ा पीने की सलाह दी जाती है (तीन चौथाई उबलते पानी मे अश्वपुच्छ का एक बड़ा चम्मच डालकर बर्तन उतार लेते है; एक-डेढ घटे बाद काढे को छानकर उसे एक-एक घूट सारा दिन पीते हैं। चिकित्सा दो-ढाई सप्ताह चलती है)।

नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां वाले रोगियों को प्रशामक (ब्रोमाइड, यदि अच्छी

तरह सहन होता हो), वालारआन और नार्कघातक (मेड्रस्मन पथान इ भाजपाम, क्लोरडिआजेपोक्सीद, लिविउम, त्रिओक्साजीन) दिये जाते है। सार्वदैहिक खुजली मे लाभ के लिये निम्न भौतिकीय चिकित्सा का उपयोग होता है - कृत्रिम या प्राकृतिक (तदनुरूप निरोगालय मे) सल्फरित हाइड्रोज या रेडोन स्नान, बलूत की छाल या गेंदे के काढे को जल मे मिलाकर स्नान, चोकर के पानी मे स्नान (एक बार मे एक किलोग्राम) और समुद्र-स्नान। वाह्य चिकित्सा के रूप मे (जो सार्वदैहिक खुजली मे अस्थायी लाभ पहुंचाती है) थीमोल, कार्बोलिक अम्ल, मेंथोल का 1-2 प्रतिशत सांद्र अल्कोहलिक घोल, क्लेरेटोन (क्लोरोबूटाल) का 5 प्रतिशत सांद्र घोल 60-70 प्रतिशत एथिल अल्कोहल मे, क्लोरल हाइड्रेट और मेथोल-युक्त शेक मिक्स्चर का प्रयोग होता है। चर्म की शुष्कता का इलाज मुखमार्ग से विटामिन A B_2 व B_3 द्वारा और किसी मृदुकारी क्रीम (lanolini. ol Olivarum, Aq distill aa 30.0) द्वारा होता है।

स्थानाबद्ध खुजली मे हमने खुजलीग्रस्त चर्म-क्षेत्र के गिर्द सुइयों की एक रीति प्रस्तावित की है। पहले आक्रांति-क्षेत्र को एथिल क्लोराइड से धोकर उसे (क्षेत्र को) संज्ञाहीन करते है (या कोई संज्ञाहरण नहीं किया जाता), फिर 0.15-0 25 प्रतिशत सांद्र 'मेथिल नीला घोल' को बेन्कन और किसी प्रोलौगेटर के साथ मिलाकर अतर्पेशीय सुई देते हैं।

Rp Sol Methyleni cocrulei medicinalis 0.25% 100
Bencaini 4 0
MDS सुई के लिये

सुई के ठीक पहले इस घोल की 10-15 मिलीलीटर मात्रा को बुन्केन और मेथीलेन नीला का खुजलीविरोधी प्रभाव दीर्घ करने वाले द्रव्य के साथ (उसी मात्रा मे) मिला लेते है। डॉक्टरी जेलाटिन, पोलीवीनिल या पोलीवीनिलपिरोलीडोन (पोवीडीन) के 10 प्रतिशत सांद्र घोल के साथ, अंतिम प्रसाधन सबसे अच्छा है, लेकिन उसका आण्विक द्रव्यमान 40000 से कम नहीं होना चाहिए।

एथिल क्लोराइड से सिंचन या कार्बन-डायक्साइड-बर्फ से सतही शमन का उपयोग अडकोष (फोते) की स्थानाबद्ध खुजली मे होता है। भग की खुजली के कुछ केसो में, जब अन्य रीतियां असफल हो जाती है, जननेंद्रिय के नर्वों का दोतरफा उच्छेदन या अल्कोहलीकरण किया जाता है।

स्थानाबद्ध खुजली की चिकित्सा बक्की की और डिआडिनामिक (पारप्रवेगिक) धाराओ (आयन मोडूलेटरो) से की जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइड मलहमो से अस्थायी तौर पर आराम मिलता है ये मलहम है सीनालार लोकाकोर्टेन 1 2 प्रतिशत 0 5 1 0 प्रतिशत प्रेद्नीजोलोन या 3-5 प्रतिशत टार बोरिक

अम्ल से युक्त मलहम जनन-ग्रंथियो के हार्मोनों (मुख्यत पुमज से युक्त क्रीम मथिल या टस्टोस्टेरान प्रोपिओनट (लानोलिन के आधार पर 0 5 0 25 प्रतिशत सांद्रता के साथ)।

नार्वचर्मशोथ

नार्वचर्मशोथ एक चिरकालिक पुनरावर्ती शोथी चर्मरोग है, जो तीव्र खुजली, पिटिकीय स्फोटों और स्पष्ट शैवाकीकरण के माध्यम से व्यक्त होता है।

परिसीमित और विसरित नार्वचर्मशोथो मे भेद किया जाता है। कई अविशिष्ट रूप भी हैं—अतिपोपित नार्वचर्मशोथ (विशाल शैवाकीकरण), अतिशृगी (मसेदार), मशिकीय नार्वचर्मशोथ, चेहरे का विसरित शैवाकीकरण आदि।

हेतुलोचन और गदजनन—नार्वचर्मशोथ मुख्यत अतर्जनित घटकों के प्रभाव से होता है, जिनमे निम्न की गणना होती है—नर्वतत्र, अतस्रावी ग्रथियो और आतर अगो के कार्य मे गडबडियां, द्रव्य-विनिमय की गडबडिया और प्रतिकूल परिवेशी घटको के प्रभाव से होने वाली भीतरी गडबडिया।

विभिन्न स्तरों की नर्वक्लेशिक गड़बड़िया भी पायी जाती है—वर्धित उत्तेजन या वर्धित नियत्रण, शीघ्र क्लाति, दुर्बलता, रागात्मक अस्थिरता, अनिद्रा आदि। इन सबके साथ-साथ यंत्रणादायक और कुटाली खुजली होती रहती है, जो नार्वचर्मशोथ का मुख्य लक्षण है। विद्युमस्तिष्कलेख, प्लेथिस्मोग्राफी, ख्रोनाक्सीमेट्री तथा अन्य रीतियों से परीक्षण करने पर पता चलता है कि सबसे पहले केंद्रीय नर्वतत्र मे गड़बड़िया है, फिर पनपू नर्वतंत्र मे (स्थायी श्वेत चर्मालेख, स्पष्ट लोमहर्षक (या लोमप्रेरक) प्रतिवर्त, ताप-नियमन, स्वेदन और वपास्राव मे गडबड़ी आदि)।

केंद्रीय नर्वतंत्र के उच्च भागों के कार्य मे गडबडी की प्रकृति प्राथमिक हो सकती है और नार्वचर्मशोथ की उत्पत्ति मे हेतुलोचनी भूमिका निभा सकती है। कुछ रोगियो में वे द्वितीयक प्रकृति की भी हो सकती हैं, जो कुटाली चर्मरोग, प्ररक्षित एव तीव्र खुजली और अनिद्रा से होती है। द्वितीयक नर्वक्लेशिक गडबडिया गदजनक महत्त्व रखती हैं और नार्वचर्मशोथ का प्रवाह तीव्र कर देती है। इस तरह एक दुश्चक्र बन जाता है—नार्वचर्मशोथ का उग्र प्रवाह तथा यत्रणादायक खुजली नर्वक्लेशिक गडबडियों को सहारा देती है और तीव्र करती है, जबकि नर्वक्लेशिक गडबड़िया नार्वचर्मशोथ के प्रवाह को गभीर बना देती हैं।

हमारी खोजों के अनुसार नार्वशोथ के रोगियो मे अधिवृक्क वल्कुट, ढालवत ग्रथि एव जननग्रथियों के कार्यो मे गडबडी पायी गयी है। तीव्र नर्वक्लेशिक गडबडिया (वर्धित उत्तेजनता, रागात्मक अस्थिरता, खुजली से सबधित दीर्घकालीन ऋणात्मक भावनाए, अनिद्रा) स्त्रैसी घटक (स्ट्रेस फैक्टर) है, जिनमे अधिवृक्क

वल्कट का अधिक तीव्रता स काम करना पड़ता [illegible] और नाव्र शोथी प्रक्रिया की परिस्थितियों मे उसका काय धार धीर मद होने लगता ह और [illegible] केसो मे तो बिल्कुल बद हो जाता है। अधिवृक्कों का कार्य पूर्णतया बद हो जाने पर वे वर्धित आवश्यकता के अनुसार एटीशोथी कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन (कोर्टिजोन, हाइड्रोकोर्टीजोन) अधिक मात्रा में स्रावित नहीं कर पाते। दूसरी ओर, नर्वचर्मक्लेश के रोगी में एंटीशोथी हार्मोनों की आवश्यकता अधिक मात्रा मे होती है। कोर्टिकोस्टेरोइड स्राव मे यह विरोधाभासयुक्त कमी शोथी प्रतिक्रिया को तीव्र कर देती है, अथात् चर्म मे रोग-प्रक्रिया को तीव्र कर देती है, परोर्जिक प्रतिक्रिया को उग्र कर देती है। यह कुछ हद तक नार्वचर्मशोथ (सभवत अन्य चर्मक्लेशों के भी) रोगियों मे नर्वमानसिक चोटो के बाद या दीर्घकालीन ऋणात्मक रोगो के अतर्गत रहने पर रोगक्रिया उग्र होने लगती है।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध होता है कि विसरित एवं प्रकीणित नार्वचर्मशोथ के रोगियों के लिये रक्षी दिनचर्या (प्रोटेक्टिव रेजिमेन्ट) प्रलिखित करना चाहिए स्वापन मे सामान्य शातिदायक एव धनात्मक रागो का शब्दाधान करना चाहिए, स्वापन ओर विद्युनिद्रा के साथ धीरे-धीरे घटती मात्रा में कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन भी देने चाहिए।

नर्वचर्मक्लेश के रोगियों में ढालवत ग्रंथि की क्रियाशीलता बढ़ी होती है, विरलत घटी हुई भी होती है, अक्सर वे जनन-ग्रंथियों की निष्क्रियता से पीड़ित होते है। इसीलिये नार्वचर्मशोथ के हेतुलोचन और गदजनन में नार्व-अंतर्स्रावी गडबडियो और परोर्जिक प्रतिक्रियाओं की भूमिका प्रमुख होती है।

विभिन्न कारणों और अंतर्स्रावी गडबड़ियों से नर्वतंत्र का दीर्घकालीन तनाव ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिस पर 'चार्म नार्वक्लेश, अर्थात् नार्वचर्मशोथ तथा अन्य परोर्जिक प्रतिक्रियाए विकसित होती हैं।

नार्वचर्मशोथ मे परोर्जिक अवस्था का महत्त्व निम्न घटकों से प्रमाणित होता है–

(1) विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर पयोपा-दद्रु से शुरू होता है, जो नियमत पारश्लेपण की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न होता है। पयोपा-दद्रु के अतिरिक्त वपास्रावी (और विरलत' वास्तविक) दिनाइ भी धीरे धीरे नार्वचर्मशोथ मे परिणत हो जात हे (यदि वे प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर लेते है)। इस तरह की परिणतिया पयोपा-दद्रु और वयस्को मे वपास्रावी दिनाइ के लिये लछक है। अत्यल्प प्रायिक केसो में सीरमी या दद्रु-कूपो के रूप मे रिसाव वाला वस्तिकायन और तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी तल्पिक चित्र मे अधिक हावी रहती है, बनिस्बत कि शैवाकीकरण से युक्त पिटिकीय स्फोट और अंतर्स्यदन।

(2) परजिक स्फोट और खुजली स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ में मुख्य अधिकेंद्रों से दूर स्थित चर्मक्षेत्रों पर भी पायी जा सकती है।

(3) नार्वचर्मशोथ के अनेक रोगियों का शरीर प्रतिजीवकों, किन्हीं अन्य दवाओं या खाद्य सामग्रियों के प्रति अतिसवेदी होते है।

(4) नार्वचर्मशोथ के साथ-साथ रोगी मे अक्सर अन्य परोजिक रोग भी पाये जाते है, विशेषकर ब्रोंखी दमा, कुर्भाप्रेरक नासाशोथ और पित्ती।

(5) हमारे विभाग में सपन्न किये गये परीक्षण यह दिखाते हैं कि नार्वचर्मशोथ से पीड़ित अनेक रोगियों में बोयडेन (Boyden) के निष्क्रिय रक्तस्कदन परीक्षण, कूम्स (Coombs) और कुंस (Kuns) के एंटीग्लोबूलिन-परीक्षण आदि जैसी इम्यूनो-परोजिक प्रतिक्रियाएं तीव्र धनात्मक होती है। इससे इन रोगियों मे एकसंयोजी प्रतिकायो (स्व-प्रतिकायो) की उपस्थिति सिद्ध होती है।

सर्वप्रथम केंद्रीय नर्वतत्र की, फिर पनपू नर्वतत्र और अतस्रावी तत्र की गड़बड़ियो की दृष्टि से नार्वचर्मशोथी की उत्पत्ति का कारण समझने के प्रयत्नों और इस रोग में शरीर की परोजिक अवस्था तथा विभिन्न आतर अंगो की द्रव्य-विनिमय से संबंधित गड़बड़ियों की भूमिका स्पष्ट करने के प्रयत्नो के बीच कोई अतर्विरोध नही है, उल्टा, ये एक-दूसरे के पूरक हैं। नर्वतंत्र की गड़बड़ियो के साथ अक्सर अतस्रावी व्यवधानों (अधोवर्ध-अधिवृक्कीय तत्र और अपेक्षाकृत विरलत: ढालवत एव जनन-ग्रंथियो की गड़बड़ियों) के अवलोकन से इस बात की पुष्टि होती है कि नार्वचर्मशोथ के गदजनन मे नार्वअतस्रावी गड़बड़ियो की ही प्रमुख भूमिका होती है।

ऋजु आंत और मल-मार्ग की श्लेष्मल झिल्लियों के चिरकालिक अतिश्यायी शोथ से पृष्ठद्वार के क्षेत्र मे स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ और खुजली के गदजनन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बडी व छोटी (तथा दोनो) आंतों और जठर (या तीनों) के चिरकालिक शोथ के साथ-साथ ऋजु आंत तथा मल-मार्ग (या दोनो) का भी शोथ होता है और मल-विसर्जन में अवरोध होने लगता है। इससे शरीर मे आंत के गरणकारी द्रव्यो का अपचोषण होने लगता है (शरीर का स्वगरल-क्लेश या स्वगरलता)। अतिसार या मल में श्लेष्मला के साथ कब्ज के कारण पृष्ठद्वार की श्लेष्मला और चर्म क्षोभित हो जाते है और इससे भी इस चर्मक्षेत्र मे नार्वचर्मशोथ के उग्र होने की परिस्थितियां बन जाती हैं। इस पृष्ठभूमि पर कवकज या खमीरज क्षतिया उत्पन्न हो सकती हैं। पृष्ठद्वार के गिर्द विदार, रक्तस्रावस (अधिकाशत बाह्य, विरलतः आतरिक) और जोंक (मुख्यत सूत्र-कृमि) भी इस क्षेत्र में स्थानाबद्ध खुजली और नार्वचर्मशोथ विकसित कर सकते हैं।

बाह्य जननेंद्रियो के क्षेत्र में स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ के गदजनन मे मुख्य

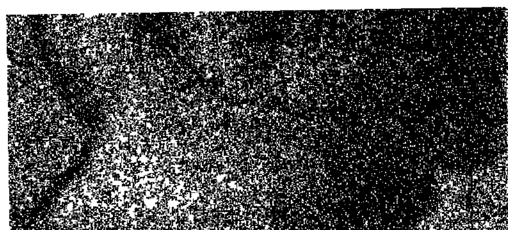
भूमिका निम्न की [illegible] है [illegible] गायसा तथा [illegible] स्राव से संबंधित गड़बड़ियां, जननेंद्रियों [illegible] में [illegible] प्रक्रियाओं और [illegible] के चिरकालिक रोगों की (विशेषकर [illegible] के [illegible] की श्लेष्मल झिल्ली के शोथ और पृष्ठों में [illegible] की)।

अतीव शोथी प्रकृति की [illegible] पृष्ठभूमि में चर्म [illegible] अंतर्स्यंदन **विसरित नार्वचर्मशोथ** के [illegible] चित्र पर [illegible] है। आक्रांति के अधिकेंद्र अधिकांशतः चेहरे, गरदन, हाथ पैर [illegible] होते [illegible] (कोहनी और घुटनों के विपरीत तरफ गड्ढेनुमा क्षेत्रों), जननेंद्रियों के क्षेत्र, जांघों की [illegible] सतहों तथा शरीर के अन्य क्षेत्रों पर होते हैं। प्राथमिक [illegible] के रूप में अक्सर अधिचार्म एवं सुचाम पिटिकाएं पायी जाती हैं। रंग में उन्हें स्वस्थ त्वचा से अलग करना मुश्किल होता है और कहीं-कहीं पर वे संगम करके पिटिकीय अंतर्स्यंदन के क्षेत्र बनाती हैं। आक्रांति-क्षेत्र पर त्वचा अक्सर अतिवर्णकित और शुष्क हो जाती है, उस पर असंख्य निम्नचन और सूक्ष्म चोकर जैसा शल्कन दिखाई पड़ता है। नैसर्गिक पुटकों में अंतर्स्यंदन की पृष्ठभूमि पर रैखिक विदार पाये जाते है। चर्म की आक्रांति निम्न लक्षणों मे व्यक्त होती है—तीव्र खुजली और एकलरूपी अनेक केसों में किसी-न-किसी डिग्री की नर्वकर्षीशिक गड़बड़ियां, श्वेत चर्मलेख, स्पष्ट लोमहर्षक प्रतिवर्त, ये सब मिलकर नार्वचर्मशोथ का लाक्षणिक तल्पिक चित्र बनाते हैं। नार्वचर्मशोथ के रोगियों में अवकोर्टिकता (कोर्टिकोस्टेरॉइडों का अपर्याप्त स्राव) अतिवर्णकता के अतिरिक्त अक्सर निम्न लक्षणों में व्यक्त होता है—अवतान, अवप्रवेगन, परोर्जिक प्रतिक्रियाएं, जठर-रस का अल्प स्राव रक्त-अवमिष्टता, मूत्र-विसर्जन में कुछ कमी, दुबलापन (शरीर के भार मे कमी), वर्धित क्लांति।

विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर मौसमी होता है। रोगी की दशा अक्सर गर्मियों मे सुधर जाती है और जाड़ों मे बिगड जाती है। कुछ केसों में प्रक्रिया के साथ-साथ ब्रोंखी दमा, परागज ज्वर, कुंभीप्रेरकीय नासाशोथ तथा अन्य परोर्जिक रोग होते हैं। प्रक्रिया का इंपेतिगीकरण और दद्रुकरण भी संभव है (वल्मिकायन का विकास, अल्पकालीन रिसाव, तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी)।

विसरित नार्वचर्मशोथ को यदि गदोतलोचनी दृष्टि से देखा जाये, तो वह निम्न लक्षणो से लछित होता है—परा एवं अतिशृंगनता, हल्के कंटलयक्लेश, आंतर एव अंतराकोशिकीय शोफ, पिटिकाओं के शोफ, गोल-कोशिकीय (लसोतकोशिकीय) अंतर्स्यंदन, जो अधिकांशतः सुचर्म मे हल्का विस्फारित कुंभियों के गिर्द पाया जाता है।

स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ सीमित चर्म-क्षेत्र पर ही उत्पन्न होता है, लेकिन



स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ (बिडाल का शैवाक)

कारण वह रोगी के लिये बड़ा यन्त्रणादायक होता है। खुजली शाम उत्पन्न होती है। इसके प्रिय स्थल हैं—गरदन की पश्च और पार्श्व व जननेंद्रिय के क्षेत्र (इन रोगियो मे जांघ की मध्य सतह भी ग्रस्त रहती है), नितंबो के बीच का पुटक, वृहत संधियो की । शुरू में रोग-स्थल पर त्वचा अपरिवर्तित रहती है। बाद मे बनावट की पिटिकीय क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जो चोकर जैसे ोती है; कहीं-कही खुजली से खरोंचें भी बन जाती है। इसके बाद धिकांशतः शैवाकवत पिटिकाएं संगम कर जाती हैं और विभिन्न त्ते (सतत पिटिकीय अतर्स्यदन) बना लेती हैं, जिनका रग फीका न लाल तक हो सकता है; उनकी परिरेखाए गोल (वृत्ताकार) या ऽ। चर्म पर नक्काशी जैसी आकृतिया स्पष्ट होती जाती हैं, अर्थात् वकसित होने लगता है। त्वचा कीमुख्त जैसी होती जाती है। र्मशोथ मे प्रक्रिया जब अपनी पराकाष्ठा पर होती है, तब विशिष्ट कार के कटिबध पाये जा सकते हैं—केंद्रीय कटिबध (शैवाकीकरण बध, जिसमे अलग-अलग चमकदार, अक्सर चिकनी और फीके पिटिकाए होती है, और अत मे परिसरीय कटिबंध, जिसमे यी जाती है। निस्त्वचन (ताजा या रक्तस्रावी खड्डियो से आच्छादित) की पृष्ठभूमि पर देखी जाती है, जिसकी प्रकृति अशोथी होती है। होने पर ग्रुपो मे संगमित शैवाकवत पिटिकाओं के अतिरिक्त

प्रतिगामी [illegible] की प्रवृत्ति नहीं है, [illegible] जाता है [illegible] समकाल [illegible] । [illegible] की अवधि में [illegible] जाता है।

ऊतगदलोचन— [illegible], [illegible], [illegible] है, [illegible] जाता है।

चिकित्सा—[illegible] रोगियों के लिए [illegible] चिकित्सा व मनोथेरापी के साथ-साथ पोलिशार्था (पृश्शोर्था) [illegible] कोर्टिकोस्टेरॉइड हार्मोनों (उदाहरण स्वरूप मेथिलप्रेडनीसोलोन, ट्रायमसिनोलोन) की [illegible] खुराक धीरे-धीरे बढ़ती मात्रा में प्रलिखित की जाती है; ये हार्मोन निम्न स्थितियों में दिये जाते हैं—रोग के कठिन प्रवाह में, शोथ सूजन में, आकांति-अधिकेंद्र के प्रसारण की प्रवृत्ति में। और जब चिकित्सा की अन्य रीतियों से कोई लाभ नज़र नहीं आता। नर्वतंत्र की कार्यशीलता को सामान्य करने तथा अवक्रीशिक प्रतिक्रिया कम करने के लिये निम्न का उपयोग किया जाता है—ब्रोमाइड (कैफ़ीन के साथ), ब्रोमाइड के प्रसाधन, वालेरिआना, नव्यशाली प्रसाधन (मेप्रोबामेट, त्रिओक्साजीन, ख्लोरडिआजेपोक्सीद, लिब्रिउम, मदुक्सेन), गुरिका-अवरोधकारी प्रसाधन (नानोफिन, ख्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड, ब्सामेथोनियम आदि) और पृष्ठहिस्टामीनिक प्रतिकंडुक प्रसाधन (टावेजिल या टावेगिल, डिमेड्रोल, सुप्रास्टिन, डिप्राजिन आदि)। बी-सकुल के विटामिन और विटामिन पी-पी तथा ए प्रलिखित किये जाते हैं (बच्चों के लिये विकीर्ण रूप में और बड़ों के लिये विटामिन ए का तेल में सांद्रित घोल के रूप में; विटामिन ए और इ अंतर्पेशीय सुई के रूप में अलग-अलग या एविट के रूप में दिये जाते हैं)। अधेड़ रोगियों को मेथिलटेस्टोस्टेरोन प्रलिखित किया जाता है। सल्फरित हाइड्रोजन तथा रेडोन के घोल में स्नान, पराबैंगनी विकिरण और सौर चिकित्सा (फोटारसायनथेरापी) भौतिकीय चिकित्सा के साधन हैं। गेंदे, बलूत की छाल या गुलदाउदी (कैमोमीले) के काढ़े के साथ स्नान की भी सलाह दी जा सकती है। स्नान के बाद शुष्क चर्म-क्षेत्रों पर कोई पोषक क्रीम (lanoline, ol olivarum, Aq. destill aa 30 0) या जैतून (ओलिव) का तेल लगाया जाता है। नाफ्थालान, टार, सल्फर, इख्थामोल, ASD घोल आदि के साथ केराटो-प्लास्टिक मलहम लगाये जाते हैं।

कोर्टिकोस्टेरोइडों से युक्त मलहम (सीनालार, लोकाकोर्टेन, फ्लूसीनार, फ्तोरोकोर्ट आदि) ग्रस्त क्षेत्र मे लगाये जाते है। अनीलीन रंजक, कास्तेलानी का पेंट और ओक्सीकोर्ट, जेओकोर्टोन (गेओकोर्टोन), लोकाकोर्टेन N, लोकाकोर्टेन-वियोफोर्म मलहम द्वितीयक पैठन मे प्रयुक्त होते हैं विसरित एवं प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ के

रोगियों की तरह स्थानाबद्ध रोग प्रक्रिया वाले रोगियो को भी प्रशामक और एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन, मसालों, स्मोक्ड (धूमायित) खाद्य पदार्थ और नमक के विहीन आहार दिया जाता है। अल्कोहलिक पेय और खुजली व चर्मशोथ तीव्र करने वाले आहार से पूर्ण परहेज किया जाता है। स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ मे आक्रांति-अधिकेंद्र के गिर्द 0.15 प्रतिशत सान्द्र मेथीलीन नीला घोल की सुई दी जाती है (उसके साथ बेन्केन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का 2 प्रतिशत सान्द्र घोल और जेलाटिन या पोलीवीनिलपीरोलीडोन का प्रोलोंगेटर मिलाकर)। अधिकेंद्र के स्पष्ट शैवाकीकरण और अतर्स्यदन मे अधिकेंद्र के गिर्द हाइड्रोकोर्टिजोन इमल्शन की सुइयां वाछनीय हैं। बक्की की किरणों द्वारा चिकित्सा से भी लाभ होता है उसे बनाये रखने के लिये और पुनरावर्तन का निरोध करने के लिये गर्मियो में किसी दक्षिणी इलाके में व्यतीत करने की सलाह दी जाती है। साथ-साथ युक्तिसगत स्वास्थ्यप्रद दिनचर्या, चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रो की चिकित्सा और आहारीय, औषधीय तथा घरेलू परोर्जको (जानवरो के रोओं, दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त रसायनों, घरेलू धूल आदि) से बचाव भी आवश्यक होता है।

सामान्य मुंहासा

यह चर्म का एक सामान्य कौस्मेटिक रोग है। यह यौन परिपक्वता के आरंभ मे शुरू होता है, क्योंकि इस समय गोनाडोट्रोपिक हार्मोनो के प्रभाव से वपाल ग्रंथियो की कार्यशीलता बढ़ जाती है। ऐंड्रोजन हार्मोन स्त्री-पुरुष दोनो में मुहासों के स्फोट को तीव्र कर देते हैं। एस्ट्रोजनों की उच्च खुराकें वपाल ग्रंथियों के स्रावी कार्य को दमित कर देती है और क्षतियों को प्रगामी बना देती है। मुंहासों का निकलना मासिक धर्म शुरू होने से पूर्व तीव्र हो जाता है। सगर्भता का प्रक्रिया पर लाभदायक प्रभाव पडता है, क्योंकि हार्मोनिक संतुलन सामान्य रहता है।

वपास्राव, साथ-साथ अनुकंपी पारमस्तिष्क-केंद्र की तदनुरूप गडबडियां और वपा की सरचना मे परिवर्तन—यह सब रोग के विकास मे सप्रेरक घटक है। हेतुलोचनी घटक स्ताफिलोकोको की गदजनक जातियां और मुंहासे के कोरीनेबाक्तेरिउम एक्ने है। अतिपुसजता के अतिरिक्त रोग के प्रति प्रवणकारी घटक निम्न है—जठरांत्र-मार्ग की गड़बडिया, अविटामिनता, रक्ताल्पता, आनुवशिक प्रभाव और आहार एव द्रव्य-विनिमय की प्रकृति। इसके प्रिय स्थल चेहरा और वक्ष एव पीठ के ऊपरी भाग है।

वपा के वर्धित स्राव और मशिकीय अतिशृंगनता के कारण वपाल ग्रंथियो के मार्ग केराटोटिक (शृंगी) प्लगो से अवरुद्ध हो जाते है (इन प्लगों को कीलें कहते



चर्मरोग चिकित्सा

ह)। वपा के जमाव और पूयकारी पैठन के कारण शोथी पिटकीय एव पीपिकीय मुहासे जैसी क्षतिया उत्पन्न होती है। अधिकेद्र संगमित होते हैं और अधिक गहरी परतों तक बेधकर पहुच जाते है, वे कठोरित एव अतर्स्यदित हो सकते है। विद्रधिया बन सकती है। ऐसे केसो मे निर्वणकित क्षताक रह जाते हैं, जिससे चेहरे पर तरह-तरह के दाग और गड्ढे नजर आने लगते है। किस प्रकार की क्षतिया प्रबल है, इसके आधार पर निम्न प्रकार के मुहासो मे भेद किया जाता है—विमृतिक (चेचकसदृश) मुहासे, कुपोपज मुहासे और सकुली मुहासे (सगमरत वर्तुलाकार कीलें)।

ऊतलोचनी आधार परिमशिकीय अतर्स्यद और वपाल ग्रथियों का फुलाव, रोध और कुपोषण है।

विभेदक निदान पीपिकीय सीफिलिदों, आयोडाइडों व ब्रोमाइडो से उत्पन्न स्फोटो के साथ किया जाता है।

चिकित्सा—उग्रता-काल में रोगी को प्रतिजीवक दिये जाते हैं, मुख्यत तेत्रासिक्लीन, ओलेतेत्रिन (250000U प्रतिदिन तीन या चार बार, 20 दिनो तक) और एरीथ्रोमीसिन, विटामिन E, A, B_2, B_6, B_{12}, B_{16}, फोलिक व नीकोटीनिक अम्ल और मुखमार्ग से सल्फर के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते है। द्वितीयक पूयकारी पैठन द्वारा उत्पन्न क्लिष्टता की स्थिति मे स्ताफिलोकोकी टोक्सोइड, एटी-स्ताफिलोकोकी गामा ग्लोबूलिन और स्वरक्त-चिकित्सा की सलाह दी जाती है। एसीडीन-पेप्सिन (एक भाग पेप्सिन और चार भाग एसीडीन की गोलिया या बेटाईन हाइड्रोक्लोराइड) पानक्रेआटिक प्रसाधन और विरेचक (दस्तवार साधन) पाचन को ठीक करने के लिये दिये जाते है। जननहार्मोन (एस्ट्रोजन) रोगी की उम्र और उसके अतर्स्रावी तत्र की अवस्था को देखते हुए प्रलिखित किये जाते है।

बाह्यत त्वचा को निस्स्नेहित और निष्पैठित करने वाले प्रसाधन प्रयुक्त होते है। इसके लिये निम्न के अल्कोहलिक घोल प्रयुक्त होते है—रेसोर्सीनोल, सैलीसीलिक अम्ल, कैफर पारद क्लोराइड (0.5 प्रतिशत) खीमोप्सिन (ट्रिप्सिन के साथ खीमोट्रिप्सिन) और खीमोट्रिप्सिन। वपास्राव-शामक प्रसाधन भी दिये जाते है। सल्फर, रेसोर्सीनोल और इख्थ्यामोल के जलीय निलबन (सस्पेसन), इनकी सान्द्रता धीरे-धीरे बढायी जाती है।

कुटाली केसो की चिकित्सा मे बाक्तेरिक पीरोजन (पीरोजेनल, प्रोडीजिओजान) के साथ प्रतिजीवक का प्रयोग किया जाता है, कीलो और पीटको को दूर किया जाता है। मुहासे के दूर होने के बाद सल्फर-टार से युक्त पाउडर और कैफर या ख्लोराफेनीकोल स्पीरिट या कुम्मेरफील्ड (Kummerfield) का घोल प्रयुक्त होता है।

Rp. Camphorae [illegible]
Gummi arabici [illegible]
Sulpher pp. 10,0
Aq. Calcis ad 100,0
MDS. [illegible]

पराबैंगनी किरण और फोटोरसायन चिकित्सा (PUVA चिकित्सा) सुसंकेतित है।

लाल मुंहासा

लाल मुंहासा मुख्यतः तैल अपस्राव से पीड़ित रोगियों में शरीर-गठनात्मक कुंभिक नर्वक्लेश की एक अभिव्यक्ति है। संप्रेरक घटक है--जठरांत्र की गड़बड़ियां (जठरशोथ, अक्सर अवाम्लीय या अनम्लीय और आंत्र शोथ), स्नायु नर्वक्लेश, रजोनिवृति और जाड़ों के समय खुले में या तप्त उत्पादन-प्रक्रिया वाले कर्मालय में श्रम। डेमोडेक्स फोलीकुलोरम (वपाल ग्रंथियों की एक कृमपतंग किचड़ी) कुछ रोगियों में निर्णायक (सस्टेनिंग) घटक का काम करती है। रोग अधिकांशतः औरतों को 40 से 50 वर्ष की उम्र में होता है।

रोग नाक, गालों और ललाट के मध्य भागों पर लाली से शुरू होता है, जो गर्म व क्षोभक भोजन, अल्कोहल तथा रागात्मक घटकों से तीव्र हो जाती है। इसके बाद दूरकुंभीविस्फारण और फिर परिमशिकीय पिटकों की उत्पत्ति होती है। लाल मुंहासा (या रोजासिआ) शुद्ध रूप में भी हो सकता है, लेकिन अक्सर सामान्य मुंहासे और द्वितीय पैठन से क्लिष्ट हो जाता है।

रूपलोचनी अभिव्यक्तियों के अनुसार इस रोग के निम्न रूप (चरण) होते है--(1) ललामक्लेशिक रोजासिया, स्थायी रक्तस्फीति, इसकी पृष्ठभूमि में सतही दूरकुंभीविस्फारण के जाल का विकास, चर्म का मोटा और चिकटा (तैलचट) होना, अतिपोषित वपाल ग्रंथियों के मुहानों का विस्फारित होना, (2) पिटकीय रोजासिआ, सतही मुहासा-सदृश मशिकीय पिटक; कीलों (कोमेडोनों) की अनुपस्थिति; (3) पीपिकीय रोजासिआ, पीपिकाए, जिनके मध्य में पूयमृति होती है; (4) ततुकुंभी-विस्फारक रोजासिआ, पर्याय अतिपोषित रोजासिआ (रीनोफीमा-लुडित नाक); लुडित (लोबुलेटेड) बैंगनी, मुलायम लस्त गुल्म; पीपिका, दूरकुंभीविस्फारण और क्षताक।

चिकित्सा के रूप में निमित्त कारणों को दूर किया जाता है--अंतस्रावी गड़बड़ियों की चिकित्सा, जनन-उपकरणों की गड़बड़ियों और रोगों को दूर करना, पेट व यकृत के रोगों का इलाज, मलविसर्जन का सामान्यीकरण। आहार में क्षोभक

पदार्थ नहीं होने चाहिए अल्कोहल गर्म पेय और मसालों से परहेज करना चाहिए एसीडीन-पप्सिन और बी-सकुल के विटामिन मुखमार्ग के दिये जाते हैं।

द्वितीय पैठन की स्थिति मे मुखमार्ग से तेंत्रासिक्लीन दो या तीन सप्ताह तक या एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट 10 दिनो तक नित्य तीन बार प्रलिखित किया जाता है।

बाह्य वपास्राव-शामक चिकित्सा हिओक्सीजोन या लोरिडेन C मलहम के साथ 30 प्रतिशत सल्फर से युक्त मलहम द्वारा होती है (अंतिम में पहले सल्फरयुक्त मलहम एक-तिहाई मात्रा में रखते है, फिर दोनो मलहम आधा-आधा मिलाकर प्रयोग मे लाते है); इख्थ्यामोल-रेसोर्सीनोल पेस्ट भी लाभकर होता है। बारी-बारी से गर्म और ठडे पानी से धोना भी कुंभिक तानता बढ़ाने के लिये अच्छा होता है। धूप और फ्लुओरीडेटेड कोर्टिकोस्टेरोइड से परहेज करना चाहिए।

रीनोफीमा की चिकित्सा करोर्जिक रीति से स्काल्पेल या छूरी द्वारा या ताप-दागन (थेर्मोकाउटराइजेशन) द्वारा अतिपोषित प्रवर्ध को दूर करने से होती है। प्रारंभिक चरण में कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ द्वारा शीत-चिकित्सा या केश-विद्युत् (हेयर-एलेक्ट्रोड) द्वारा आयुरी पारतापन भी लाभकारी उपाय है।

Rp : Sulphur pp
Glycerini
Aq Amygdalarum amar
Aq Calcis ad 10.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

Rp . Resorcini
Sulphur pp ãã 5 0
Calcii carbonici
Zinci oxydati
Ol Lini
Aq Calcis ãã ad 100 0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

अपशल्की चर्मारुणाता (लाइनर का रोग)

रोग का हेतुलोचन अभी तक स्पष्ट नही हो पाया है। रोग के कारणो से सबधित कई विचार प्रस्तुत किये गये है। उदाहरणार्थ, लाइनर यह मानते थे कि रोग स्व-आगरण से होता है, क्योंकि उनके अनुभव मे इस रोग की चर्म-क्षतियो के साथ-साथ जठरात्र की गडबडिया अवश्य मिलती थी। अन्य वैज्ञानिको का मानना

* [illegible]

तंत्रिक चित्र—[illegible] होता है। [illegible] जननादया, त्रिवर्ती या [illegible] थोड़ा-सा उभरे हुए [illegible] विशिष्ट क्षतियां है। [illegible] पर्वपुटकों के क्षेत्र में [illegible], [illegible] शल्कन और साथ ही [illegible] पर वपास्रावी प्रकार के [illegible] पाये जा सकते है। रोग अनपच, तीव्र आन्त्रशोथ, [illegible], अतिसार, दुर्बलता, अवपोषण (दूध में विटामिन एच की कमी), अवखोमिक रक्ताल्पता, रिसालु पारश्लेपण और कभी-कभी फ्लेगमशोथ की पृष्ठभूमि में उत्पन्न होता है। लसपर्वो, यकृत और प्लीहा का वर्धन, श्वेताल्पता और अवग्लोबुलिनरक्तता अक्सर पायी जाती है।

लाइनर के रोग में शरीर का तापक्रम या तो सामान्य रहता है, या अवज्वरीय होता है। सहवर्ती क्लिष्टताओं के कारण तापक्रम ३८-३९°C तक पहुंच सकता है। रक्त में एओजीनोफीलों की कमी या पूर्ण अनुपस्थिति एक लक्षक चिह्न है (तुलना करें बच्चों में रिसालु पारश्लेपण और वपास्रावी दिनाइ से, जिनमें एओजीनोफिल अवश्य होते है)।

विभेदक निदान वपास्रावी दिनाइ, सीफिलिसी बुदबुदिया, रिट्टर के रोग, कादीदक्लेश और नवजात के तीव्र बहुमारिक बुदबुदिया के साथ किया जाता है, जो सीफिलिसी बुदबुदिया की तरह ही बाक्तेरीस्कोपी के धनात्मक (सकारात्मक, पुष्टिकारी) परिणामों और बुल्लानुमा क्षतियों की उपस्थिति से विभेदित होता है। रिट्टर का रोग धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और मुंह के गिर्द शुरू होने वाली क्षतियों से लछित होता है।

वपास्रावी दिनाइ से पीडित बच्चों में सामान्य अवस्था नियमतः अच्छी रहती है। कोई आंत्रशोथ, अतिसार या अवखोमिक रक्ताल्पता तथा एओजीनोफीलिया नहीं होती और ऐसी स्थिति लाइनर रोग के लिये लछक नहीं है।

चिकित्सा—विटामिन A, B_2, B_6, B_{12}, C, H दिये जाते हे। विटामिन एच (बिओटिन) 0.003-0 005 ग्राम की खुराकों में नित्य तीन बार दिया जाता है। रक्त-चिकित्सा और गामा ग्लोबूलिन की सुइया वाछनीय होती है। प्रतिजीवको (सेपोरिन, ओलेटेट्रिन आदि) से और तीव्र केसों में कोर्टिकोस्टेरोइडों तथा अनाबोलिक हार्मोनों से लाभकारी प्रभाव मिलता है। विवेकसगत आहार और ठीक समय पर

कृत्रिम दुग्ध पान का प्रबंध करना चाहिए बच्चे की सफाई संबंधी देखभाल में पोटाशियम परमेंगनेट या बलूत की छाल (अथवा गेंदे) के काढ़े के सुसुम (37.5-38°C) घोल में आपादमस्तक स्नान बहुत महत्त्वपूर्ण है। त्वचा में कार्टिकोस्टेराइड मलहम और विटामिन ए व 5 प्रतिशत नाफ्थालान (या 3-5 प्रतिशत सोडियम बोरेट) से युक्त क्रीम लगाया जाता है।

भविष्यवाणी—यथासमय युक्तिसंगत चिकित्सा, पर्याप्त भोजनचर्या और सफाई संबंधी देखभाल से बच्चा कुछ सप्ताह में ठीक हो जाता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ (डानबोल्ट-क्लोस का रोग)—यह एक जीनीचर्मक्लेश है, जो खमीरी त्रिप्तोफान के व्यवधानित विनिमय और शरीर में जस्ते की कमी से संबंधित है। यह अवगामी स्वकायिक प्रकार (रिसेसिव ऑटोसोमल टाइप) द्वारा विरासतित होता है। यह शायद गर्भावस्था में उत्पन्न गरलक्लेश के कारण बाह्य भ्रूणचर्म का जन्मजात कुविकास माना जा सकता है। कांदीदक्लेश और पूयकोकी पैटन रोग के तल्पिक प्रवाह को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। रोग जीवन के प्रथम वर्ष में, अक्सर जन्मोपरांत प्रथम सप्ताहों में विकसित होता है; वयस्कों में बहुत विरल होता है।

बस्तिकीय-बुल्लेदार या ललामिक-रिसालु क्षतियां नैसर्गिक द्वारों (मुख, पृष्ठद्वार) के गिर्द, चर्मपुटकों में, मूलाधार में या हाथ-पैर के परिसरीय भागों (उंगलियों) पर उत्पन्न होती हैं (जिन पर यान्त्रिक चोट लगी होती है)। नखों में कुपोषणजनित परिवर्तन प्रेक्षित होते हैं। पटलित खर्जूरूपी शल्कन अधिकेंद्रों पर बाद में विकसित होता है। मुख-श्लेष्मला अक्सर ग्रस्त हो जाती है। हाथ-पैर के नख विकृत हो जाते हैं। शिरोवल्क, पलकों तथा भौंहों पर खल्वाटता (निर्लोमता) या बालों की विरलता शुरू हो जाती है। स्फोटों के साथ-साथ जठरांत्र की गड़बड़ियां, पलकशोथ, प्रकाशभीति और दुर्बलता प्रेक्षित होती है।

औटोप्सी से आंत्र-व्रण और छोटी-बड़ी दोनों आंतों का शोथ प्रेक्षित होता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ का निदान करने में निम्न रोगों की संभावना दूर करनी पड़ती है—बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्राथमिक चार्म कांदीदक्लेश (खमीरी कवकों के परीक्षण से), ड्यूरिंग का रोग और पीपिकीय खर्जूक्लेश।

चिकित्सा—ओक्सीक्वीनोलीन के उत्पाद प्रलिखित किये जाते हैं; ये हैं—एंटेरोसेप्टोल (0.125-0.25 ग्राम नित्य दो बार, 5 दिन के अंतराल के साथ 10-10 दिन के चक्रों में, कुल पांच चक्र) और निस्टाटिन (500000 U नित्य तीन या चार बार 14 से 18 दिनों तक)। विटामिन B_6, B_{15}, PP और एवीटुम प्रलिखित किये जाते हैं।

हाल में अच्छा प्रभाव जिंक के प्रसाधनों से प्राप्त किया जा रहा है। जिंकी

टी या जिका ... बल्कल है, का 1.5 ग्राम
गोलियों में मिलते हैं, ... दिन में ... बार ...
20 दिन के ... ... जाते हैं ... की ...
जा सकता है—... दिन में ... 10
... में ... की जाती है। ... ग्राम
ग्राम तीन बार खाने के बाद दिया जाता है। चिकित्सा ...
10 दिन के चक्रों में की जाती है।

बाह्य प्रयोग की दवाएं हैं—अनेक ... के ... ,
... आयोसिआनिन, कोलीमीसिन (निओमीसिन) ...
नीसिन, हिओक्सीजोन, लोरिडिन C और ... N या।

बालों के रोग

स निरूपित खोंतेदार खल्वाटता

खोंतेदार खल्वाटता (निर्लोमता) में शिरोवल्क, दाढ़ी, मोंछ,
... के परिसीमित गोल क्षेत्रों से बाल झड़ जाते हैं। ...



प्रसार करते हुए अक्सर संगमित हो जाते हैं और के विस्तृत क्षेत्र बना लेते हैं, जिनकी किनारियां बहुचक्रीय (पोलीसाइक्लिक) होती है।

खल्वाटता के ताजे अधिकेंद्र ललामिक और शोफित होते हैं। बाद मे आक्रांत चर्म चिकना हो जाता है और हाथी-दांत के रंग का हो जाता है। अक्सर अधिकेंद्र के लोमों (बालो) के कुछेक मिलीमीटर लंबे ठूंठ रह जाते है; इनकी जडे हल्का शोफित होती हैं और इनके शिखर पतले तथा प्रश्नवाचक चिह्न की तरह हो जाते हैं। इन बालों को सरलता से दूर किया जा सकता है। सिर पर सूक्ष्म अधिकेंद्रित खल्वाट क्षेत्रो वाली निर्लोमता कभी-कभी बच्चो मे पायी जाती है। इसे सूक्ष्मचित्तिक निर्लोमता कहते हैं।

प्रवाह—रोग कई महीनो और कभी-कभी वर्षो तक चल सकता है, पुनरावर्तित होता रहता है और कुटाली होता है। ठीक होने पर पहले कोमल रोए निकलते है, बाद मे इनकी जगह पर मोटे (सामान्य) और वर्णकित बाल उग आते हैं।

हेतुलोचन अज्ञात है।

गदजनक महत्त्व निम्न घटकों को दिया जाता है—शरीर की विभिन्न गड़बडिया (गरलताजनित, पैठनजनित, अंतर्स्रावी, द्रव्य-विनिमय संबंधी, नार्वअंतर्स्रावी और कुपोषणजनित नर्वक्लेशिक); पराढालवत एवं ढालवत ग्रथियो की अवक्रिया, अवकोर्टिकता (हाइपोकोर्टीसिज्म); शरीर में जस्ते की कमी, त्रिप्तोफान-विनिमय मे गडबड़ी, अविटामिनता, स्व-इमूनी एवं विलंबित पैठी-परोर्जिक अवसंवेदिता।

इस रोग के साथ-साथ निम्न संवृत्तिया प्रेक्षित हो सकती हैं—एओजीनोफीलिया, लिंफोसितोसिस, क्षेत्रीय लसग्रथिशोथ, नखों का कुपोषण और सिरदर्द। कुछ केस ऐसे भी मिलते है, जिनमे शिरोवल्क, भौंहों, पपनियों और पूरे शरीर के सारे बाल (लोम, केश, रोएं) झड़ जाते है। पूर्ण दुर्दम निर्लोमता उन रोगियों में विकसित होती हे, जिनमे आनुवंशिक कुयोग, अवढालवत्ता और अवकोर्टिकता होती है।

बच्चे कभी-कभी रोग के एक बहुत ही कुटाली रूप से ग्रस्त हो जाते हैं, जिसमे खल्वाटता की टेढ़ी-मेढ़ी पट्टी पश्चकपाल से कानो तक पहुच जाती है (सेल्सस की सर्पता, सीमेन्स की सीमावंत खल्वाटता)।

कवकों के लिये बालों और शल्को के सूक्ष्मदर्शन के नकारात्मक परिणाम, सीरमलोचनी परीक्षणो के नकारात्मक परिणाम और सीफिलिस की अन्य अभिव्यक्तियो की अनुपस्थिति द्वारा इस रोग को सीफिलिसी खल्वाटता और शिरोवल्क की कवकता से विभेदित किया जा सकता है।

चिकित्सा—निम्न औषधिया प्रलिखित की जाती हैं—विटामिन A, E, C, H, D_2, B संकुल और साथ ही निकोटिनिक, पाटोथेमिक तथा फोलिक अम्ल एव फूरोकोउमारिन- प्रसाधन (बेरोक्सान, प्सोरालेन, आमीफूरिन, मेलाडीनीन)। हार्मोनिक

चिकित्सा (ACTH, कार्टिकोस्टेरॉइड) और प्रशामक प्रयुक्त होते हैं।

बाह्य चिकित्सा में स्थानिक रक्तस्फोटन उत्पन्न करने तथा रोमों का विकास बढ़ाने वाले साधन प्रयुक्त होते हैं। अल्कोहल के तथा अन्य घोल (जिनमें मिलाकर सलीसीलिक अम्ल और क्लोरल हाइड्रेट मिले रहते हैं) मिर्च, पीपर का टिंचर, आम्मोफ्यूरिन, मेलाडीनीन आदि से मालिश, जिसके बाद परावैगनी किरणन अथवा सोरालेनथेरापी (PUVE-थेरापी), स्टेरॉइड क्रीम और नाफ्थालान आदि।

Rp T-rae Cantharadis
Resorcini
Ac. Salicylici ãã 5 0
T-rae Capsici 10.0
spiritus vini 96% ad 100.0
Glycerini 3 0
Ol Ricini 10.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

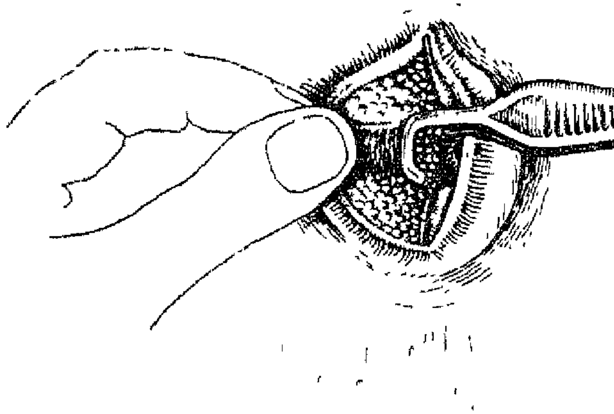
Rp Sulphur pp 10.0
Spiritus camphor 25.0
Glycerini 15.0
Ac lactici 1 0
Aq destill. 120 0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

बक्की की सीमांत (बोर्डरलाइन) किरणे, परावैगनी विकिरण और (दार्सोवालीकरण–उच्च आवृत्ति एव उच्च वोल्टता की प्रत्यावर्ती विद्युत-धारा का उपयोग) भौतिकीय चिकित्सा की लाभकर रीतिया है। कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ और वीनिल क्लोराइड से शीत-चिकित्सा, शीत-मालिश और विद्युत्व्रश से मालिश का भी उपयोग होता है।

चर्म-वर्णकता की गड़बड़ियां

चर्म की वर्णकता तीव्र हो जाती है (अतिवर्णकता) या क्षीण (अवर्णकता)। वर्णकता की गड़बडिया द्वितीयक हो सकती है (किसी प्राथमिक या द्वितीयक चर्म-क्षति की अवगति या उपशमन के बाद) या प्राथमिक। अतिवर्णकता चर्म मे मेलानिन नामक वर्णक का उत्पादन तीव्र होने से विकसित होती है। अवर्णकता मेलानिन के अपूर्ण उत्पादन या उसकी बिल्कुल अनुपस्थिति से होती हे।

झौरिकाएं और ख्लोआज्मा (अक्सर गर्भवती स्त्रियो के चेहरों पर कत्थई भूरे



श्वित्र

धब्बे) सीमित अतिवर्णकना से सबधित है, जबकि श्वित्र (वीटीलीगो) और विरल सवृत्ति निरजता मेलानिन की अनुपस्थिति से लछित रोगो से संबधित हैं।

श्वित्र

श्वित्र धड़ या हाथ-पैरो के चर्म-क्षेत्रो पर मेलानिन के लोप से लंछित होता है। यह किसी भी उम्र के लोगो मे पाया जा सकता है, लेकिन अधिकाशतः बचपन और किशोरावस्था मे होता है।

हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात है। अंतर्स्रावी गडबडियों के सिद्धात और रक्त में ताबे, लोहे व सूक्ष्म पोषक तत्त्वो (ट्रेस एलिमेटों) की कमी या मेलानोजनन मे भाग लेने वाले खमीरों की सक्रियता में कमी या उसके पूर्ण दमन का सिद्धांत अधिकाशत मान्य है।

आक्रांति अक्सर हाथो (हथेलियो के पीछे) और धड पर सममित रूप से अवस्थित होती है और अक्सर वृहत क्षेत्रो पर फैल जाती है। अतिवर्णकित वलयो से घिरे हुए वर्णकहीन श्वेत धब्बे बन जाते हैं। श्वित्र के क्षेत्रों पर लोम (रोए) बने रहते हैं, लेकिन अक्सर वे भी निर्वर्णकित हो जाते हैं।

निर्वर्णकित क्षेत्रो मे कभी-कभी अतिवर्णकता के द्वीप भी देखे जाते है। श्वित्र के धब्बे संगमित हो सकते है, इस स्थिति मे वे पेट, पीठ और नितबों के वृहत क्षेत्रो

[illegible] सामान्य रूप भी [illegible] अधिकेंद्र [illegible]

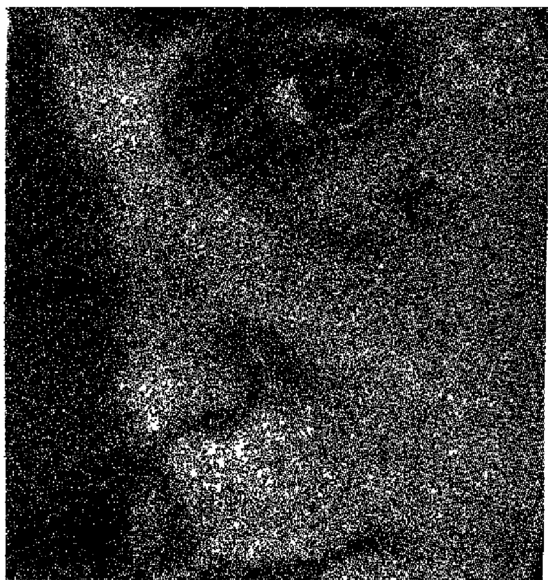
[illegible]

[illegible]

ऊतकीय चित्र—श्वित्र-अधिकेंद्रों में मेलानिन की पूर्ण अनुपस्थिति और इनकी किनारियों पर मेलानिन का विशेष [illegible] होता है। अधिकेंद्र के [illegible] और सूचर्म में हल्की सी [illegible] प्रक्रिया की पृष्ठभूमि देखी जाती है।

चिकित्सा—फुरकोमारिन (furocumarin) के प्रभावन प्रलिखित किये जाते हैं। मेलाडिनीन, आम्मीफूरिन, बेरोक्सान, प्सोरालेन, [illegible] और [illegible]; मेलाडिनीन स्नान के पहले मुखमार्ग से दो या तीन बार ग्रहण किया जाता है (चिकित्सा के एक दौर में 200 से 400 टिकियां लगती हैं)। साथ ही श्वित्र के अधिकेंद्र मेलाडिनीन के अल्कोहलिक घोल (1 : 1, 1 : 2) से पेंट किये जाते हैं और दो-तीन घंटे बाद 1-2 से 15-20 मिनट के लिये पराबैंगनी विकिरण की क्रमिक खुराक के प्रति अनावृत किये जाते हैं। चिकित्सा का एक दौर 15 से 20 अनावृतियों में समाप्त होता है। चार से छः सप्ताहों के अंतरालों पर इस चिकित्सा के तीन या चार दौर की सलाह दी जाती है। आम्मीफूरिन और बेरोक्सान बाह्य रूप से (टिंचर की तरह) और मुखमार्ग से (0.2 ग्राम की टिकियों के रूप में) प्रयुक्त होते हैं (चिकित्सा के एक दौर में 250 से 300 टिकिया लगती हैं); इसके साथ-साथ 0.5 प्रतिशत सांद्र Sol. Cupri sulfurici के दस बूंद खाने के बाद दिन में तीन बार ग्रहण किये जाते है। फूरोकूमारिन से चिकित्सा के साथ-साथ धमनी दाब पर निगरानी रखी जाती है, मूत्र व रक्त की जाच करायी जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइडों की हल्की खुराकें कुछ केसों में कारगर सिद्ध होती हैं। नन्हे श्वित्र-अधिकेंद्रों में 0.2-1 मिलीलीटर हाइड्रोकार्टीजोन-निलंबन की सुइया (कुल 5-10 अवचार्म सुइयां) कुछ केसो मे वर्णकता को पुनर्स्थापित कर देती हैं। विटामिन B_1 व B_6 और निकोटिनिक अम्ल प्रलिखित किये जाते है।

भविष्यवाणी अधिकांश केसों में प्रतिकूल ही होती है। वर्तमान चिकित्सा-रीतिया कुछ केसो मे प्रक्रिया को आगे बढ़ने से रोक लेती हैं और कुछ मे रोग को ठीक भी कर देती हैं। स्वतःस्फूर्त रूप से ठीक होना बहुत ही विरल है।



आधारार्ब

दुर्दम चर्म-अर्बुद

आधारार्ब या आधार-कोशिकीय कर्काब या आधार-कोशिकीय उपकलार्ब

आधारार्ब चर्म-कैंसरों के लगभग 80 प्रतिशत केसों में पाया जाता है। यह बहुत औपचारिक रूप से ही दुर्दम चर्म-अर्बुदों के ग्रुप में शामिल किया गया है, क्योंकि अपवहन-रीति से इसका प्रसार विरल है और रोगी की इस रोग से मृत्यु कभी नही होती। हेतुलोचनी रूप से आधारार्ब अपभ्रूणीय (भ्रूण-विकास की) गड़बडियो के साथ कही अधिक संबध रखता है, वनिस्बत कि कैसरजनक क्षोभको के साथ।

तल्पिक चित्र मद वर्धन से लछित होता है। आधार-कोशिकीय उपकलार्ब नन्ही चित्ती, पर्विका या गोल परिसीमित अतिशृगनता से उत्पन्न होता है। लछक

(विशेषता सूचक) लक्षण निम्न हैं—[illegible]। [illegible] या आधी [illegible] की [illegible] पतली और अपेक्षाकृत कठोर, शोथित किनारों, जो [illegible] और [illegible] [illegible] से घिरी होती है। शोथ के क्षेत्र में अलग-अलग [illegible] [illegible] वाले [illegible] भी पाये जा सकते हैं, जो उपकलार्ब के लिए बहुत ही [illegible] लक्षण है, अधिकेंद्र के मध्य में एक पिटक बनता है, जिसको [illegible] [illegible] है, फिर [illegible] खड्डी बनती है। अधिकेंद्र क्रमशः [illegible] और [illegible] होता है। [illegible] में व्रणन (जो महीनों और वर्षों की अवधि में उत्पन्न होता है) सतह पर [illegible] धीरे-धीरे फैलता हुआ बढ़ता है। व्रण की तली चिकनी होती है और [illegible] भाग की सूजन सतत या अलग-अलग कणों के रूप में होती है, सूजन का [illegible] [illegible] [illegible] होता है।

क्षताकन व्रण के केंद्र और उसकी किसी एक किनारी पर एक साथ शुरू होता है। व्रण का गहराई में जाना कम प्रायिक होता है; यदि जाता है, तो उसका अतर्म्यद नीचे के ऊतकों और यहां तक कि अस्थियों को भी नष्ट करने लगता है।

ऊतलोचनी परीक्षण से पता चलता है कि कोशिकाओं में छलें जैसा प्रधान हो रहा है। नाभिक नहुल बड़े होते हैं, प्रोटोप्लाज्म बहुल क्षीणता के साथ [illegible] होते हैं, जो अधिचार्म आधारीय कोशिकाओं की तरह ही होते हैं। [illegible] [illegible] नहीं होता और उन्हें चंद विद्युत-प्रकाशिकीय गुणों के आधार पर पहचाना जाता है। उनका प्रोटोप्लाज्म वर्धित ऑस्मिओफीलिआ द्वारा लक्षित होता है। [illegible] में विस्तृत विषमताएं नजर आती हैं।

यहां हम आधारार्ब के निम्न रूपों को संक्षेप में देखेंगे- (1) सतही आधार-कोशिकीय उपकलार्ब, जो मुख्यतः धड़ पर स्थित होता है और परिसर में बहुत धीरे-धीरे फैलने वाले धब्बे के रूप में व्यक्त होता है, इसके गिर्द पतले व अपेक्षाकृत कठोर पिटकों का घेरा होता है; केंद्र में शल्की खड्डी पड़ जाती है, जिसके गिरने पर अपोषित ललामक्लेशिक सतह नजर आती है, (2) चपटा क्षताकी उपकलार्ब सतही होता है और अक्सर कनपटी के चर्म पर बनता है, यह केंद्र में क्षताकी-अपोषज परिवर्तनों और सूजी हुई किनारियों वाले विसर्पी उत्वर्ध द्वारा लक्षित होता है, (3) कठचर्मता जैसा आधारार्ब, जो छोटे सिक्के के आकार का धब्बा होता है, इसका रंग हाथी-दांत की तरह होता है और यह अक्सर ललाट पर उत्पन्न होता है; (4) पर्विकीय उपकलार्ब, जो बाजरे से लेकर मटर के बराबर तक का गोल, कठोर गुल्म होता है, जो छोटी खड्डियो और क्षताकों से ढंका होता है, यह ललाट, पलकों और शिरोवल्क पर होता है। एक कठोर, गहरे क्रेटर जैसे व्रण भी बनते हैं, जिनकी तली असमतल होती है (छेदक व्रण, जो अक्सर चेहरे के ऊपरी अर्ध पर होता है). ये व्रण एक द्रुत प्रगामी विनाशकारी प्रक्रिया द्वारा लक्षित

होते हैं, जिसमे गहरे ऊतक की विमृति होती है; मोती के रंग के सूजन नही होते, अस्थियो और उपास्थियो का विनाश होने लगता है, तीव्र रक्तस्राव और छूने मे दर्द होता है, लेकिन अपवहन की प्रवृत्ति नही होती (इनके सामान्य स्थल नथूने, कर्ण-पालिका, मुंह के कोने और पलक हैं)।

चिकित्सा—ओमेन (Omain) के मलहम, 5 प्रतिशत पोडोफीलिन वाजेलीन, शीत चिकित्सा और करोर्जिक पारतापन का उपयोग (व्रण बनने से पूर्व) लाभदायक होता है। निकट नाभि वाली एक्स-रे-चिकित्सा, रश्मिसक्रिय समस्थो का प्रयोग और अर्बुद को करोर्जन से दूर करना (जिसके बाद विकिरण और आवश्यकता पडने पर चर्मारोपण किया जाता है)—यह सब उपकलार्ब के व्रणन की अवस्था मे लाभदायक होता है।

कंटकोशिकीय उपकलार्ब

कंटकोशिकीय उपकलार्ब या चर्म की कांटल कोशिकाओ का कर्कार्ब वास्तविक शल्क-कोशिकीय कर्कार्ब है, जो दुर्दम अंतर्स्यंदी एवं विनाशकारी प्रवर्ध एवं अपवहन द्वारा मुख्यत लसजनक मार्ग से लछित होता है। यह विभिन्न रासायनिक या भौतिकीय क्षोभको के कारण और श्वेतसिलत्व, श्वेतशृगनता, बुढापे के शृगार्ब, वृका के क्षतार्कों तथा एक्सरेजनित व्रणों की पृष्ठभूमि पर भी उत्पन्न होता है। विवर्ण त्वचा वाले रोगियों मे इस रोग के प्रति प्रवणता अधिक होती है। कंटकोशिकीय उपकलार्ब सतही शल्की पिटको के रूप में होता है। इन पिटको से मसानुमा प्रवर्ध तेजी से बढ़ने लगते है; इनके केंद्रों मे अपघटन शुरू हो जाता है और क्रेटर जैसे व्रण बनने लगते हैं। प्रारभिक प्रसार अपवहन की विधि मे क्षेत्रीय लसपर्वो तक प्रेक्षित होता है। अर्बुद चर्म के किसी भी क्षेत्र पर उत्पन्न हो सकता है, फिर भी इसके प्रिय स्थल नैसर्गिक द्वारों के गिर्द, मुख-श्लेष्मला (जीभ), गला, हथेलियो के पीछे और जबडे हैं।

कर्कस (कैक्रोइड) कंटार्ब का एक अतर्स्यदी रूप है। यह कठोर, मुश्किल से हिलने वाला पीडाहीन अर्बुदो के रूप में व्यक्त होता है, जिनकी अवछिन्न (अ-सतत) किनारिया विदारो से कटी-फटी होती है। अर्बुद अक्सर व्रणित हो जाते है और सरलता से रक्तस्राव करने लगते हैं।

पिटिकीय (पनपू) कांटल (कटकोशिकीय) कर्कार्ब एक एक्सोफीटिक चपटा मसानुमा अर्बुद है, जो फूलगोभी की तरह बढता है, इसमें अपघटन की प्रवृत्ति होती है। इसके प्रिय स्थल निचला होंठ और जननेद्रिय के क्षेत्र है।

ऊतगदलोचन—अविशिष्ट (अविभेदित) कंटकोशिकाओ का जाल जैसा बहुलन और मोती जैसी केराटोटिक कोशिकाओ के खोते पाये जाते है। अर्बुद की

कोशिकाएं [illegible] और [illegible] को [illegible] जाती हैं। [illegible] गैलानुक्लाइक अम्ल की मात्रा और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्षारीय फास्फाटाज [illegible]।

चिकित्सा—[illegible] वालों [illegible] चिकित्सा का प्रयोग होता है। [illegible] को विद्युत् कर्तन से स्वस्थ ऊतकों समेत [illegible] कर दिया जाता है, [illegible] को दूर किया जाता है और इसके बाद [illegible] चिकित्सा और [illegible] ओलीवोमीसिन का मलहम प्रयुक्त होता है।

क्रव्यार्ब

चर्म का क्रव्यार्ब प्राथमिक या द्वितीय (अपवहन से उत्पन्न) हो सकता है। क्रव्यार्ब अपरिपक्व योजक ऊतकों का एक दुर्दम नौवर्ध है। चर्म-क्रव्यार्ब शुरू में सुचल होते हैं (अपने स्थान से हिलडुल सकते हैं, एक जगह दृढ़ता से जमे नही होते) और द्रुत वर्धन द्वारा लक्षित होते हैं। इनके ऊपर का चर्म भी सुचल और अपरिवर्तित होता है। बाद में ऊपर का चर्म लाल-बैंगनी हो जाता है और अर्बुद बहुत कड़ा हो जाता है, व्रणन एवं वर्धन जारी रखता है। पूयरक्तिल स्राव वाले गहरे व्रण बनते हैं। लसपर्वो तथा अस्थियों तक अपवहन होता है। क्रव्यार्ब एक मेलानोकोशिकीय तिल से शुरू हो सकता है (अक्सर चोटज क्षति के बाद, स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया बहुत विरल है)। इसके बाद उसका अंतर्स्यंदन शुरू हो जाता है, वह काला और वर्धित होने लगता है। परिसर में एक शोथी वलय पाया जाता है। तिल व्रणित होता है, लसपर्वो, यकृत तथा मस्तिष्क की ओर अपवहन होता और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

तीव्र प्रवाह ग्रहण करने वाले क्रव्यार्ब मे मृत्यु कुछ महीनो मे हो जाती है। चिरकालिक प्रवाह मे रोगी कई वर्षो तक जीवित रहता है।

गर्म देशों के कुछ चर्म रोग

पिंता (स्पेनिश pinta, अर्थात् नन्हा धब्बा) एक चिरकालिक अ रतिज रोग है जो मुख्यतः मध्य एव दक्षिणी अमरीका और पश्चिमी अफ्रीका के देशो मे पाया जाता है। इसका निमित्त कारण त्रेपोनेमा कारातेउम है, जो दैनदिन निकट संपर्क से संक्रमण करता है।

एक से तीन सप्ताह के अतर्शयन-काल के पश्चात् प्राथमिक क्षति विकसित होती है। इसकी प्रकृति चपटे शल्की अ-व्रणित पिटक की होती है, जो परिसर में प्रसार करता है और विस्तृत ललामिक-शल्की चकत्ते बनाता है। त्रेपोनेमा पालीडुम

जेसे जीवाणु प्राथमिक अधिकेद्रो मे सरलतापूर्वक पहचान में आ जाते हैं; अधिकेद्र अक्सर शरीर का कोई भी अनावृत स्थल हो सकता है।

द्वितीयक क्षतियां पितास (स्पेनिश 'पिता' और हिंदी 'अस' अर्थात् 'ऐसा', 'सदृश') पैठन के 5 से 12 महीने वाद उत्पन्न होते है। वे विसरित कड्क धब्बो और लाल, हल्के नीले तथा भूराभ श्वेत पिटको द्वारा लछित होते है। शल्कन अधिकेद्र के मध्य में और निर्वर्णकता परिसर मे देखी जाती है। क्षतिया खर्जुक्लेश, सीफिलिद और दिनायस से मिलते-जुलते हो सकते है।

तृतीयक चरण कई महीनों बाद और कभी-कभी कुछ वर्षो बाद आता है। यह चर्म में अपरजक परिवर्तनो द्वारा लछित होता है। गंदले रग के धब्बो के बीच-वीच मे अतिवर्णकित क्षेत्र आ-आकर एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करते है। हथेलियो और तलवों पर चर्म मोटा तथा निर्वर्णकित हो जाता है। लसग्रथिरुग्नता विकसित होती है। निमित्त कारण लसपर्वो से प्राप्त द्रव्य मे अनुवेदित हो सकते है।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया प्रथम दो चरणों मे 75 प्रतिशत और तीसरे चरण में 100 प्रतिशत रोगियो में धनात्मक होती है। त्रेपोनेमा पालीडुम का निश्चलकरण-परीक्षण पूरे रोग-काल मे धनात्मक (पुष्टिकारक) होता है।

चिकित्सा—प्रतिजीवकों का उपयोग होता है।

बेजेल (अरवी सीफिलिस) एक त्रेपोनेमा-प्रेरित अरतिज रोग है, जो अरबी देशों में पाया जाता है। इसका निमित्त कारण त्रेपोनेमा बेजेल है, जो रूपलोचनी तौर पर सीफिलिस, पिता और फ्राबे जिया उत्पन्न करने वाले त्रेपोनेमा-जीवाणुओ मे मिलता-जुलता होता है। पैठन के प्रसार (या संक्रमण) का सबध बुरी हाइजीनिक परिस्थितियों के साथ है। यह अधिकाशत· बच्चों को होता है।

चर्म एवं श्लेष्मल झिल्लियों की रालार्बिक-व्रण्य क्षतिया, अस्थिपर्यस्थिशोथ, सधिवर्ती पर्व, मुख-श्लेष्मला पर पनपू पिटक तथा धब्बे, हथेली और तलवे का शृगीक्लेश, खल्वाटता और श्वित्र के अधिकेद्र विकसित होते है।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है।

चिकित्सा—प्रतिजीवक (पेनीसिलिन, तेत्रासिक्लीन, एरीथ्रोमीसिन, ख्लोराफेनीकोल) प्रलिखित किये जाते है।

ट्रौपिक फ्रांबेजिया (न्युपदंश) उष्ण कटिबधीय क्षेत्रो का एक रोग है। इसके निमित्त-जीवाणु त्रेपोनेमा पेर्तेनुए कास्तेलानी है। इसका प्रसार (या संक्रमण, पैठन) निकट दैनदिन (अयौन, अरतिज) सपर्को, चर्म की चोटज क्षति और कीट-दंशो से होता है। इसका अंतर्जानपदिक प्रसार सिर्फ जनता की सामाजिक एव हाइजीनिक परिस्थितियो पर निर्भर करता है, जो कुछ उपनिवेशी देशो मे बहुत बुरी

थी। बच्चों और किशोरों में इस रोग के प्रति विशेष प्रवणता होती है।

तल्पिक प्रवाह के अनुसार फ्राबेजिया सीफिलिस से बहुत मिलता जुलता होता है। दो से चार सप्ताह के अनुशयन काल के पश्चात एक प्राथमिक अधिकंद बनता है। यह अलिंगच्छिन्न लक्षण से चिह्न हुए बिना परंतु पिटिका में परिणत होता है; पिटक तेजी से बढ़ते हैं, व्रणित होते हैं और पपड़ी से ढक जाते हैं। इनके गिरने पर चौरस तथा हल्का वर्णांकित क्षतांक रह जाता है। प्राथमिक अधिकंद ज्वर, संधिवेदना और सिरदर्द की पृष्ठभूमि में विकसित होता है। एक से तीन महीने बाद द्वितीय स्फोट विकसित होते हैं। ये हैं—गह्वमांकुर, शुष्क, सगमी, समानुभा, पनपू पिटक, जो देखने में रास्पबेरी (रसभरी) जैसे लगते हैं (फ्रांसीसी शब्द 'फ्राँबाजया' का अर्थ रास्पबेरी ही है)। ये पिटक आर्द्र पीली खड़िया से ढके होते हैं, जिनका आकार 1-2 सेंटीमीटर होता है। नलामक्लोशिक-शल्की तथा गुलाबिकीय धब्बे और शैवाकवत मशिकीय तथा केरटोटिक पिटक भी द्वितीय चरण के लिये लाक्षक होते हैं। चर्म-पुटकों के स्थल पर विपुल कणमय पिटिकार्बिक विरचनाएं उत्पन्न होती हैं। कुछ सप्ताहों या महीनों में क्षतियां अवगामी होती हैं और अपने पीछे निर्वर्णकित या अतिवर्णांकित शल्की क्षेत्र छोड़ जाती हैं।

द्वितीय स्फोटों में पूर्व ज्वर, लसग्रंथिरुग्णता, पर्यस्थिशोथ, अस्थिवेदना, रुमैटीवत पीड़ाजनक संवृत्तियां और पाचन में गड़बड़ी प्रेक्षित होती है।

तृतीय चरण पेठन के सात से दस साल बाद विकसित होता है, जो फटकर अनियमित, अपरदित किनारियों वाले कणीभूत (ग्रैनुलेटिंग) पिटिकार्बिक व्रण बनाते है। ठीक होने पर विकृत (कुरूप) क्षतांक रह जाते हैं। अवमग पैरों में रालार्बिक अस्थिपर्यस्थिशोथ के कारण तलवार की तरह मुड़े हुए पैर हो जाते हैं, आदमी अपंग हो जाता है, अस्थियों में स्वतःस्फूर्त विभजन (विदार, टूटन आदि) होने लगते है।

मुंह, नासाग्रसनी, नेत्र-कोटरों मे ऊतकों के तीव्र विकृतकारी कणार्बिक पूयिक क्षतियां होती हैं। द्रुत विमृतिक अपघटन के कारण वे एक कोटर के रूप मे सगमित हो सकती हैं। बहुसख्य, घने, मद गति से वर्धन करने वाले गुल्म कोहनियों, घुटनों तथा अन्य संधियो पर उत्पन्न होते है (संधि-पर्व), जो नीचे के ऊतको के साथ सगलित हो जाते है, यह रोग एक लाक्षक अभिव्यक्ति है।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टन-प्रतिक्रिया के परिणाम फ्राबेजिया मे स्थायी तौर पर धनात्मक रहते है। बिओप्सी से त्रेपोनेमा अनुवेदित होते है।

चिकित्सा—एटी-सीफिलिसी चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। पेनीसिलिन, एरीथ्रोमीसिन और विस्मथ के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते है।





मानव स्वास्थ्य

चिकित्सा श्रृंखला